नमो नमः श्री गुरुराम-जगच्चन्द्रसूरयो।

5-9, 2072
endranagar.

पंचवस्तुक Summary

PAGE NO. 1
DATE

[कर्ता-श्री हरिभद्र सू.म. टीका श्रवोज्ञश)

टीकायाः मङ्गलाचरणं

→ ग्रन्थस्य मङ्गलाचरणं

गाथा 1 पणमिऊण वद्धमाणं सम्मं मणवयणकायजोगेहिं। संघंच पंचवत्थुगमहक्कमं किंत्तइस्सामि ॥1॥

अव. पंच वस्तु के नाम

गाथा 2 प्रव्रज्यायाः विधानं, प्रतिदिनक्रिया, व्रतेषु स्थापना, अनुयोगगणानुज्ञे, संलेखना।

→ प्रव्रज्या की विधि कहेंगे, दीक्षित साधु की प्रतिदिनचर्या, फिर दिनचर्या में स्थिर ऐसे संयत की व्रतों में स्थापना, व्रती साधु को अनुयोग और गण की अनुज्ञा, चरमकाल में संलेखना।

→ पूर्वपक्ष- व्रतेषु स्थापना इति कथनं अयोग्यं, व्रतानां स्थापना इति युक्तं।
उत्तर- व्रत अनादि काल से है। उन व्रतों में इस जीव की स्थापना की जाती है।

→ अनुयोग= अनुयोजनं, सूत्रस्य निजाभिधेयेन सम्बन्धनं व्याख्यानं।

→ संलेखना= संलिख्यते शरीरकषायादि यया तपःक्रियया सा, यद्यपि सर्वा एव तपःक्रिया संलेखना तथापि अत्र चरमकालभाविनी विशिष्टैव संलेखनोच्यते।

अव. इन्हें वस्तु क्यों कहा गया-

गाथा 3 इन पाँचों में ही ज्ञानदर्शनचारित्रादि गुण रहते हैं, इसलिए ये वस्तु हैं।
अविरतसम्यग्दृष्टि आदि तो हेतुफलभाव से वस्तु होते हैं।

→ अविरतसम्यग्दृष्टि आदि —(हेतु)→ प्रव्रज्याविधानादि —(कार्य/फल)→ —(हेतु)→ विशिष्टस्वर्गगमनादि
व्यवहार नय से तो कारण में कार्य के उपचार से ये दोनों भी वस्तु हैं किन्तु परमार्थ से अधिकृत 5 ही वस्तु हैं।

(A) प्रव्रज्या विधान

प्रव्रज्या का निक्षेप और भाव प्रव्रज्या का स्वरूप

अव. प्रव्रज्या विधान की द्वार गाथा –

गा. 4 a. प्रव्रज्या भेद आदि b. कैसे गुरु द्वारा c. कैसे शिष्य को d. किस क्षेत्रादि में e. किस विधि से प्रव्रज्या देना चाहिए? यह अनुक्रम से कहूँगा।

अव. तत्त्व-भेद-पर्याय से व्याख्या की जानी चाहिए' इस न्याय से तत्त्व यानि प्रव्रज्या का अर्थ कहते हैं–

गा. 5 पाप से शुद्ध-करण योगों में प्रकर्ष से जाना अथवा मोक्ष प्रति व्रजन=प्र

→ पाप यानि गृहस्थ के पक्ष पापहेतु अनुष्ठान (कारण में कार्योपचार)

अव. a भेद से प्रव्रज्या कहते हैं–

गा. 6 नामादि 4 भेद। द्रव्य प्रव्रज्या चरकादि मतों में है। भाव प्रव्रज्या वीतराग के शासन में।

→ द्रव्य = अप्रधान द्रव्य।

→ भाव प्रव्रज्या = आरंभ-परिग्रह का त्याग।

अव. आरंभ, परिग्रह का स्वरूप–

गा. 7 आरंभ = पृथ्वीकायादि को संघट्टादिरूप आरंभ।

परिग्रह = इकट्ठा करना। 2 प्रकार (i) बाह्य-धर्म साधन सिवाय जो कुछ इकट्ठा और धर्मोपकरण में मूर्च्छा भी बाह्य; (ii) आभ्यन्तर- मिथ्यात्व अविरत दुष्ट्य

परिग्रह = परिगृह्यते तेन कर्मणा जीव।

अव. त्याग शब्द–

गा. 8. आरंभ और परिग्रह में पूर्वोक्त विधि से मनो-वाक्-काय की अप्रवृत्ति प्रव्रज्या। यह प्रव्रज्या नियम से मोक्ष फल वाली है।

→ भावमन्तरेणारम्भादौ मनोप्रवृत्त्यसम्भवात्।

अव. प्रव्रज्या के पर्यायवाची नाम–

गुरु के गुण और प्रव्रज्या का प्रयोजन

गा.9 निष्क्रमणं द्रव्यभावसङ्गात्, सर्व इष्टानिष्ट में 'समता', त्याग, विषयेषु 'वैराग्यं', क्षान्त्यादि 'धर्माचरणं', 'अहिंसा', 'दीक्षा' = सर्वसत्त्वाभयप्रदान।

अब. प्र, कैसे गुरु द्वारा प्रव्रज्या देना चाहिए?-

गा.10 1. आर्यदेशोत्पन्न 2. विशिष्टजातिकुलान्वित 3. विमलबुद्धि: 4. अवगतसंसारवैगुण्य 5. संसारविरक्त 6. प्रतनुकषाय 7. अल्पहास्यादि 8. क्षीणप्रायकर्ममल 9. कृतज्ञ 10. विनीत 11. प्रागपि राजाऽमात्यपौरजनबहुमत: 12. अद्रोहकारी 13. कल्याणाङ्ग: 14. श्राद्ध 15. स्थिर 16. समुपसम्पन्न (ये 16 गुण प्रव्रज्या योग्य व्यक्ति के हैं, गुरु इन गुणों से भी युक्त होना चाहिए) 17. विधिप्रपन्नप्रव्रज्य 18. सेवितगुरुकुलवास 19. अस्खलितशील

गा.11 20. अधीतसूत्र (जोग द्वारा) 21. वस्तुतत्त्ववेदी 22. उपशांत 23. संघ या सूत्र के वात्सल्य वाले 24. सत्त्वहितरत 25. आदेय (ग्राह्यवाक्य) 26. अनुवर्तक (स्वभावानुकूल्येन सम्यक्पालक)

गा.12 27. गंभीर 28. अविषादी (दीनता प्राप्त न करे) 29. उपशमादि लब्धि युक्त (उपशम लब्धि = दूसरे के कषाय को शांत करने में समर्थ, उपकरण लब्धि = संयम के उपकरण प्राप्त करने में समर्थ, स्थिरहस्त लब्धि = संयम में स्थिर करने में समर्थ

गा.13 30. सूत्रार्थवक्ता 31. स्वगुरु अनुज्ञातगुरुपद (जिन्हें उनके गुरु ने गुरुपद पर स्थापित किया हो)

गा.14 इस प्रकार के गुरु ऐहिक कार्य की अपेक्षा छोड़कर (i) शिष्य के अनुग्रह के लिए (ii) और कर्म निर्जरा के लिए दीक्षा दे।

→ ऐहिक कार्य की अपेक्षा - (i) मेरा परिवार बढ़ेगा या मेरी पर्षदा पूर्ण होगी
(ii) यह पानी-गोचरी लाने में काम लगेगा।

अब. इस प्रकार के गुरु होने पर लाभ -

गा.15 एवं गुणवत्तसमुद्र गुरु होने पर शैक्षक साधु को भक्ति और बहुमान होते हैं इससे ही चारित्र में श्रद्धा और स्थैर्य होता है, अन्यथा।

→ भक्ति = वाह्य विनय रूप, बहुमान = भाव से गुरु के साथ प्रतिबंध।

गा.16 अनुवर्तक गुरु जीवों के विचित्र स्वभाव को अत्यंत रीति से जानते हैं और अनुवर्तना के उपाय भी जानते हैं।

अव. अनुवर्तना के गुण-

गा. 17 अनुवर्तना से शैक्षक प्रायः सभी मोक्ष प्राप्त करते हैं।

→ पूर्वपक्ष - यदि साधु दीक्षा के योग्य है, गुणी है तो गुरु की क्या जरूर है, वह स्वयं ही मोक्ष में पहुँच जाएगा।

उत्तर - जैसे रत्न कान्त्यादि गुणों का प्रकर्ष झवेरी (जौहरी) के प्रभाव से प्राप्त करते हैं वैसे योग्य शिष्य भी गुरु प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करता है।

गा.18 प्रमाद से स्खलित शिष्य के प्रमाद को शिक्षा से छुड़वाए यही गुरु का बड़ा गुण है।

गा.19 जैसे दुष्ट अश्व को जो सारथी ठीक करे वही 'आश्विक' लोक में कहा जाता है, वैसे

अव. शिष्य के अननुपालन से गुरु को दोष-

गा.20 जो गुरु शिष्य को दीक्षा देकर अनुपालन नहीं करते, वे शासन के शत्रु हैं।

गा.21 नहीं जाना है परमार्थ जिसने, ऐसे इहपरभव में बिरुद सेवते उस शिष्य को ज अनर्थ हो, वह अनर्थ गुरुप्रत्ययिक है।

गा.22 पाप सेवते उन शिष्यों को देखकर शासन की जो निंदा हो, वह भी गुरुप्रत्ययिक है

अव. अनुवर्तक गुरु के गुण-

गा.23-26 अनुवर्तन से शिष्य स्थिर होते हैं, ज्ञान-दर्शन प्राप्त करते हैं, राग-द्वेष क्षय होते हैं, मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उन शिष्य को देखकर अन्य भी सम्यक्त्व या सम्यक्त्व का बीज प्राप्त हैं, वे भी मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार गुरु भी, स्वपर उपकार में उद्यत, गुरुत्व को सफल कर मोक्ष पामते हैं

अव. विपर्यय कहते हैं-

गा. 27 अनुवर्तित शिष्य यदि कुछ अपराध करे तो गुरु सूत्रानुसार आज्ञाकारी होने से दोषवान

शिष्य की योग्यता और दीक्षा का दुष्करत्व

गा. 28-29 पूर्वपक्ष- 'शिष्य अपराध करे, कर्म गुरु को लगे' यह तो अन्याय है।
उत्तर- क्योंकि गुरु को भगवदाज्ञाभंग का दोष लगता है। इसलिए (अनुवर्तित) अनुवर्तना करना चाहिए।

अव. कालदोष से कुछ गुणन्यून उचित गुरु को कहते हैं-

गा. 30-31 गीतार्थ, कृतसाधुव्यापार, शीलवान्, क्रियाकल्पशिक्षणानिपुण, अनुवर्तक, अविषादी, इतने गुण वाले भी अपवाद से गुरु हो सकते हैं। (b) 'गुरु' द्वार पूर्ण हुआ।

अव. c शिष्य के गुण-

गा. 32-36 1-16 गुण का विवेचन

अव. उत्सर्ग से 16 गुण, अपवाद से-

गा. 37-38 कालदोष से एकाध गुण न्यून हो, किंतु बहुगुणसंपन्न होना चाहिए, जिससे प्रव्रजित होकर गुणप्रकर्ष को साधे।

गा. 39 इस संसार से विरक्त चित्त वाले और बहुगुणसंपन्न को दीक्षा देना चाहिए क्योंकि दीक्षा अत्यन्त दुष्कर है और संसारविरक्त ही वैराग्यभाव से स्थिर होता है।

अव. दीक्षा के दुष्करत्व का कारण-

गा. 40 मोह रूपी वृक्ष अशुभ पुष्प-फल देने वाला है। उसका मूल संसारभावना, विषयरूप आदि से व्याप्त है। यह मोह अनादिकाल से होने के कारण अप्रमत्त जीवों द्वारा भी दुःखपूर्वक उन्मूलन होता है।

गा. 41 संसारविरक्तों को ही अप्रमाद होता है।

→ पूर्वपक्ष- भवाभिनंदी जीवों को जिनवचन से अप्रमाद क्यों नहीं होता?

उत्तर- जिनवचन भी भवाभिनंदी जीवों को शुभ निर्वर्तक नहीं है।

गा. 42 क्योंकि प्रचुरकर्मवाले जीवों को जिनवचन का भावार्थ परिणमता नहीं है जैसे- मैले कपड़े पर कुंकुम राग।

अयोग्य को दीक्षादान में दोष, दीक्षा वय प्रमाण,
बाल्यदीक्षा-चर्चा

गा. ५३-५५ शूकर उपदेश-क्रिया से विष्ठा से बाहर नहीं आता, वैसे ही अविरक्तमन वा संसार से बाहर नहीं आते। इस कारण धन्य, पुण्यशाली जीवों को दीक्षा देना चाहिए। अधन्य को देने से आत्म और पर का त्याग होता है।

अ. अव. अधन्य को दीक्षा देने से दोष- (आत्म-पर-त्याग)

गा. ५८ अधन्य दीक्षा लेकर ~~अविनीत~~ अविनीत होकर शिक्षा प्राप्त नहीं करता, अवि में, प्रतिषिद्धानुष्ठान में प्रवृत्ति करता है, जिससे इसका आत्मा दुर्गति में जात इस प्रकार आत्मत्याग।

गा. ५६-५८ इसकी शिक्षा में प्रवृत्त गुरु को भी आर्तध्यान होता है। उनके दोनों लोक ब होते हैं (इस लोक में भिक्षाटनादि कष्ट और परलोक में कर्मबंध से)।
जैसे असाध्यव्याधि वाले रोगी की चिकित्सा करते हुए वैद्य और रोगी दोनों क्लेश पाते हैं, वैसे। इस प्रकार पर त्याग।

गा. ५९ पूर्वपक्ष- जिनक्रिया से कुछ भी असाध्य नहीं है, ऐसा क्यों?
उत्तर- जिनक्रिया से कुछ भी असाध्य नहीं है किंतु कर्म के कारण जिनक्रिया में जीव अनुचित हैं, अयोग्य हैं, वे असाध्य हैं।

अव. दीक्षार्थी की वय प्रमाण क्या?

गा. ६० जघन्य- ८ वर्ष, उत्कृष्ट- अनंत्यवृद्ध

अव. ८ वर्ष से कम आयु में दोष-

गा. ६१ आठ साल से कम उम्र में चारित्र का परिणाम नहीं है किंतु वज्रस्वामी जैसे कुछ अपवाद हैं।

अव. बाल दीक्षा के विरोध में पूर्वपक्ष-

गा. ६२-६६ त्रैवेद्यवृद्ध- भुक्तभोगी, अतीत यौवन वाले को ही दीक्षा योग्य है क्योंकि- (i) वह बहुत वाल होता है (ii) विषयज्ञान होने से पश्चात्वय में चारित्र पालन सुंदर होगा (iii) कौतुक निवृत्ति होगी (iv) कोई शंकास्पद नहीं रहेगा (v) चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) योग्य

★ मोक्षार्थमापि धर्मः स्वकर्तव्यः (गा. 70 टीका) [इस फलाशा साधु के संवाद में]

PAGE NO. 7
DATE

में करना चाहिए (vi) उत्सुकता - चित्तविभ्रम - प्रार्थना - बलात्कारादि दोष का संभव)

अब. उत्तरपक्ष -

गा. 57-61 (i) पहले दोष का उत्तर - चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से चारित्र के भाव उत्पन्न होते हैं, चारित्रपरिणाम का वय के साथ संबंध नहीं है। कितने ही वृद्ध भी यौवन में उन्मत्त जैसे आचरण करते हैं और कितने ही बाल भी गंभीर होते हैं। परमार्थ से विवेक किसी भी उम्र में जाग सकता है।

गा. 62-64 (ii) का उत्तर - यौवन में दोष संभव है इसलिए अतीतवय में दीक्षा लेना चाहिए, यह उचित नहीं है क्योंकि (क) ऋषिशृंग के पिता आदि की तरह पश्चात्वय में भी दोष संभव है (ख) वेद मोहनीय का क्षय 9वें गुणस्थान में होता है तो नियम करना पड़ेगा कि 9वें गुणस्थान से पहले दीक्षा नहीं लेना चाहिए; 9वां गुणस्थान दीक्षा बिना प्राप्त नहीं होता (इह भव में नहीं तो पूर्व भव में ग्रहीत द्रव्यदीक्षा की अपेक्षा से), इसलिए यह 'अन्योन्याश्रय दोष होगा।

गा. 65-66 (iii-iv) का उत्तर - (क) विज्ञातविषय बालों को भी स्मृत्यादि दोष संभव है। (ख) कामावेग इस भव में किए हुए अशुभप्रवृत्ति और भवाभ्यास से प्रायः उत्पन्न होता है, ऐसा भवाभ्यास और अशुभप्रवृत्ति का निमित्त अज्ञातविषय बालों को नहीं होता।

गा. 67-70 (v) का उत्तर - (क) अर्थकाम संसार के कारण हैं, इसलिए तुच्छ है। (ख) संसार अशुभ और महापाप है, उसके क्षय के लिए शुद्ध धर्म - चारित्र धर्म करना चाहिए। (ग) संसार असार है, जीवन विद्युत् समान चंचल है, इसलिए मोक्ष के लिए धर्म करना योग्य है।

गा. 71-72 (vi) का उत्तर - (क) भुक्तभोगी को स्मृत्यादि दोष संभव है, जिससे वह बलात्कार तक भी पहुँच सकता है। (ख) अभुक्तभोगी को बाल्यकाल से ही उसकी मति जिनवचन से भावित की जाए और वैराग्य के संस्कार दिए जाएँ तो दोष नहीं होते।

* बाह्य प्रवृत्ति के ऊपर शासनप्रभावना कहने वाले साधुका उदाहरण-

चइऊण घरावासं, आरंभपरिग्गहेसु वट्टंति। जं सन्नाभेएणं, एसं अविवेगसामत्थं॥98॥

→ त्यक्त्वापि गृहवासं प्रव्रज्याङ्गीकरणेनारम्भपरिग्रहयोरुक्तप्रकारेण वर्त्तन्ते यत् यस्मात् संज्ञाभेदेन 'दैतावद्योऽयमित्येवं शब्दभेदेन, एतद् इत्थंभूतं 'अविवेकसामर्थ्यं' अज्ञानशक्ति.

गा.73 उपसंहार- जघन्य-8वर्ष, उत्कृष्ट- अनंत्यन्तवृद्ध, अत्यन्तवृद्ध में विकल्प यह है। वह भावितमति है तो दीक्षा देकर संथारा-अनशन करवा सकते हैं।

गा.74-78 दीक्षा पूर्वपक्ष- दीक्षा तो जिसके स्वजन न हो गृहस्थ प्रधान है। चर्चा

गा.79-90 पूर्वपक्ष- दीक्षा तो जिसके स्वजन न हो उसे ही देना चाहिए। चर्चा।

→ विशेष- स्वजन का त्याग विधिपूर्वक हो तो दीक्षार्थी को पाप नहीं लगता कि अविधि से हो तो पाप लगता है। (गा.90)

गा.91-108 पूर्वपक्ष- दीक्षा तो जो पुण्यशाली हो, स्वजनादि हो उसे ही देना चाहिए। चर्चा

→ विशेष- निश्चय नय से अविवेक का त्याग ही प्रधान है, स्वजनत्याग व्यवहार से है।

→ गा. 97-100 बाह्य प्रवृत्ति करने वाले साधुओं की अज्ञानता, अविवेक।

c. शिष्य की व्याख्या पूर्ण हुई।

अब. d. किस क्षेत्रादि में- (क्षेत्र)

गा.109 समवसरण, जिनभवन, क्षीरवृक्षवनखण्ड, गम्भीररसानुनादे, प्रदक्षिणावर्त्तजिनप्रतिमा

गा.110 भवन, दग्ध भूमि, श्मशान, शून्यगृह, अमनोज्ञगृह, क्षार-अंगार-कचरा आदि अपवित्र द्रव्य से दुष्ट क्षेत्र में नहीं देना।

गा.111 (काल) 4, 6, 8, 9, 12, 14, 15-30 छोड़कर शेष तिथि में देना।

गा.112 उत्तराआषाढ, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्र, रोहिणी नक्षत्र में दीक्षा, पहली, बड़ी दीक्षा

गा.113 वर्ज्य नक्षत्र और उनके फल कहते हैं।

गा.114 इन क्षेत्रादि में ही दीक्षा देना, यह जिनाज्ञा है क्योंकि क्षेत्रादि कर्म के उदय आदि के कारण है। d. द्वार पूर्ण।

द्वा. e. विधि-

गा.115 (द्वार) (i) प्रश्न (ii) कथा (iii) परीक्षा (iv) सूत्रदान (v) चैत्यवंदनादि विधि

दीक्षा विधि

PAGE NO. 9
DATE

★ दीक्षा विधि में सूत्र गुरु ही बोले (गा. 126-7)

गा. 116-7 (i) प्रश्न- कोई व्यक्ति कहे कि भन्ते! मुझे दीक्षा दो, तब गुरु उसे पूछे तू कहाँ से आया है, कौन है किस प्रयोजन से दीक्षा लेता है।

→ दीक्षा का प्रयोजन - 'अशुभभवक्षय निमित्तमेवं' (गा. 117 टीका)

118-21 (ii) कथा- भगवान् की आज्ञा आराधना- मोक्ष फल्या, विराधना- संसार दुःख फलदा।

→ प्रव्रज्याविरुद्धकारी अधिकं कर्म समर्जयति भगवदाज्ञाविरोधनेन क्रूराशयत्वात् (गा. 121 टीका)
इस प्रकार गुरु उसे कहे।

122 (iii) परीक्षा- उसने उक्त बात स्वीकारी हो तो भी (अभ्युपगतमपि) 6 माह तक स्वयं की चर्या बताना आदि द्वारा परीक्षा करो। योग्य जीव में काल अल्प और अयोग्य में अधिक भी हो सकता है।

123 (iv) सूत्रदान- विशिष्ट नक्षत्रादि युक्त शुभ दिन में चैत्यवंदन सामायिकादि सूत्र मुख पाठ से दे, पुस्तक से नहीं।

124 (v) दीक्षाविधि- तिभवानुरूप जिनभक्ति करे, गुरु भक्ति करे।

125 (प्रतिद्वार) (क) चैत्यवंदन (ख) रजोहरण दे (ग) अष्टा (लोच करे) (घ) कायोत्सर्ग (ङ) तीनबार सामायिक उच्चरावे (च) 3 प्रदक्षिणा

126-8 (क) चैत्यवंदन- शिष्य को वाम हाथ पर रखे, चैत्यवंदन करे, सूत्रादि संपूर्ण गुरु ही बोले,
सूत्र अस्खलित- अमिलित बोले

→ स्खलित= पत्थर युक्त भूमि जैसा, मिलित= विसदृश धान्यमेलकवत्, व्याविद्ध= विपर्यस्त रत्नमालावत्, हीनाक्षर= न्यून, अत्यक्षर= अधिक अक्षर। (गा. 128 टीका)

129-37 (ख) रजोहरण → शब्दार्थ - बाह्य-अभ्यन्तर रज हरे (गा. 132-33)
विधि → शिष्य बोले - अरहन्त पव्वावणयत्त। फिर गुरु खड़े होकर नवकार गिनकर दे।
उस समय गुरु अथवा शिष्य पूर्व या उत्तराभिमुख हो अथवा जिस दिशा में जिन- मन:पर्यायज्ञानी - अवधिज्ञानी - 14 पूर्वधर - 10 पूर्वधर - 9 पूर्वधर - जिनचैत्य नजदीक हो उस दिशा में मुख रहे। (गा. 129-31) ★ गा. 134-37 → दिगंबर मतखंडन।

गा.134-9 (ग) क्षपा-शिष्य 'मम मुंडावेह' बोले, फिर गुरु नवकार गिनकर उनपरी अस्खलित बोले।

गा.140-3 (घ) कायोत्सर्ग (सामायिकोत्सर्ग)-शिष्य 'मम सामाइअं आरोवेह' बोले, फिर गुरु शिष्य

(ङ) साथ सामायिकारोपणनिमित्त काउसग्ग करे, काउसग्ग पारकर नवकार पूर्वक

चार सामायिकपाठ बोले, शिष्य गुरु के पीछे-पीछे शुद्ध परिणाम से बोले।

गा.144-51 (छ) प्रदक्षिणा-शिष्य और गुरु आगे की विधिकर, शिष्य प्रदक्षिणा दे।

(च)

गा.152 दीक्षा दिन का तप-कोई आचार्य इनकी परंपरा से अवश्य उपवास-आयंबि करवाते हैं किंतु कोई एकासना भी। सामान्य से कोई दोष नहीं है।

गा.153 फिर गुरु और अन्य साधु को वंदन करे।

गा.154 फिर साध्वी जी और श्रावक-श्राविका नूतन दीक्षित को वंदन करे।

गा.155 फिर वह आचार्य के पास एकाग्रचित्त से बैठे, गुरु उसे हित शिक्षा दे।

अव. गुरु ~~म~~ की हितशिक्षा-

गा.156-63 त्रस → पंचेन्द्रिय → मनुष्य → आर्य देश → आर्य कुल (पिता) → उत्कृष्ट जाति (माता) → सकलांगनिष्पत्ति (रूप) → बल → जीवन (आयुष्य) → विज्ञान → सम्यक्त्व → शील (चारित्र) प्राप्ति → क्षायिक भाव → केवलज्ञान → मोक्ष है, ये 15 वस्तु क्रम प्रधानतर है। इनमें तुम शील तक प्राप्त कर चुके हो, अब अप्रमत्त होकर सद यत्न करना।

अप्रमाद का उपाय- हमेशा शुभान्तःकरणेन संसारनैर्गुण्यं वैराग्यसाधनं भावयितव्यं।

अव. रजोहरणादि क्रिया की चर्चा-

गा.164-7 पूर्वपक्ष (i) परमार्थ से विरतिपरिणाम ही निश्चय है तो क्रिया से क्या (ii) क्रिया बिना प्रत्येकादि महापुरुषों को यह परिणाम हुआ है (iii) क्रिया करने पर भी अंगारमर्दक आ परिणाम नहीं हुआ, तो सामायिकारोपण से क्या क्योंकि परिणाम होने पर क्रिया का कोई

नहीं और (iv) परिणाम नहीं होने पर सामायिकारोपण करने वाले गुरु को भी मृषावाद का दोष अ तथा शिष्य को भी ?

168-70 उत्तर-(i) जिनाज्ञा से विरति परिणाम ही प्रव्रज्या है। किंतु 'अत्यन्तदुशप ऐसी दीक्षा मुझे प्राप्त हुई' इस प्रकार के शुभभावोल्लास से भी क्रिया द्वारा परिणाम प्राप्त होता है। और यह परिणाम दीक्षित महापुरुषों के कार्य से जान सकते हैं, वे प्रायः अकार्य सेवन नहीं करते।

171-3 (ii) व्यवहार और निश्चय दोनों नय जिनों द्वारा समान कहे गए हैं, अत इसलिए भरतादि जैसे कादाचित्क भाव कभी-कभार ही होते हैं। यदि व्यवहार नय का उच्छेद करेंगे तो तीर्थोच्छेद हो जाएगा। व्यवहार से भी शुभ क्रिया से शुभ परिणाम, परिणाम से कर्म क्षय-क्षयोपशमादि होते हैं। (iii) परिणाम होने पर भी पडिलेहनादि क्रिया की तरह वंदनादि

174 (iii) → क्रिया भी जिनाज्ञा होने से सफल है, विफल नहीं।

175-7 (iv) परिणाम नहीं होने पर गुरु या शिष्य को थोड़ा भी मृषावादादि दोष नहीं है, जिनाज्ञा का संपादन होने से। यदि गुरु आशंसादि से मुक्त है तो उन्हें परिणाम विशुद्धि से कर्मक्षयादि होते हैं। यदि दीक्षा नहीं देंगे तो तीर्थोच्छेद का दोष लगेगा।

178 तीर्थोच्छेद- दीक्षा न हो → अतिशय भी नहीं होंगे (ज्ञानविज्ञानादि) → धर्मचरण नहीं → तीर्थोच्छेद

179 भरतादि ने भी पूर्वजन्म में दीक्षा ली थी, इसलिए वे इसभव में मुक्त हुए।

180-227 पूर्वपक्ष- इस भव में पुण्योदय से सुख भोग मिले हैं, उन्हें छोड़ने की बुद्धि यानि दीक्षा पापोदय से होती है। चर्चा।

→ सम्प्राप्या न तत्सुखं तस्य अर्थस्य इच्छाविनिवृत्त्या ऽत्र खलु यत्सुखं (ज्ञा. 96 टीका)

→ सो हु तवो कायव्वो, जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ। जेण न इंदिसहाणी, जेण य जोगा ण हायंति ॥२१४॥ ए. द्वार पूर्ण

228 इस प्रकार प्रव्रज्या विधान संक्षेप में वर्णन किया। अब प्रत्युपेक्षणादि रूप साधु की प्रतिदिन क्रिया कहूँगा। (A) प्रव्रज्या विधान पूर्ण ॥

(B) प्रतिदिनक्रिया

a. प्रतिलेखना द्वार

गा. 229 प्रव्रजित शासन में या लोक में चक्रवालसामाचारी- प्रतिदिनक्रिया करता है। यदि वह विधि और उपयोगपूर्वक करता है तो ही उसकी प्रव्रज्या सफल, अन्यथा नहीं।

गा. 230 (द्वार) a. पडिलेहना b. प्रमार्जना c. भिक्षा d. ईर्या (सूत्रोच्चारपूर्वक कायोत्सर्ग) e. आलोचना (पिण्डनिवेदन) f. भोजन g. पात्रप्रक्षालन h. विचार (बहिर्भूमिगमनं) i. स्थण्डिल। परानुपरोधी प्रासुक भूभाग j. आवश्यक। आदिशब्द से कालग्रहणादि।

गुरु. a. प्रतिलेखना द्वार। पडिलेहन का विषय, अप्रत्युपेक्षित के दोष-

गा. 231 जो संयम में प्रवृत्त को उपकार करे वह उपकरण, वस्त्रादि। प्रतिलेखना उपकरण की है। अप्रत्युपेक्षित उपकरण में प्राणिघात- परितापनादि दोष जानना।

गुरु. उपकरण के दो भाग -

गा. 232 उपकरण में वस्त्र और पात्र विषयक प्रत्युपेक्षणा। दीक्षा ग्रहण करते समय पहले वस्त्र फिर पात्र होते हैं इसलिए पहले 'वस्त्र' कहेंगे।

गुरु. वस्त्र प्रतिलेखन विधि-

गा. 233 (प्रति द्वार) (i) ऊर्ध्व (वस्त्रोर्ध्व-कायोर्ध्व) (ii) स्थिर (iii) अत्वरित, (iv) पूरे, इस प्रकार वस्त्र को अगे-पीछे देखे, फिर (v) वस्त्र प्रस्फोटन करे (vi) प्रमार्जना करे।

गा. 234 (i) वस्त्रोर्ध्व- वस्त्र को ऊर्ध्व देखे, कायोर्ध्व- उत्कुटुक आसन में, वस्त्र शरीर-भूमि पर न

गा. 235 (ii) स्थिर- अंगुठे और अंगुली से पकड़कर ~~तीन भाग में~~ अनाकुल होकर तीन भाग में वस्त्र को स्थिर दृष्टि से देखे। अथवा स्थिर पकड़े, जिससे वस्त्र नीचे न गिरे।

गा. 236 (iii) अत्वरित- वस्त्र जल्दी से न पलटाए, वायुकाय की रक्षा के लिए।

गा. 237 (iv) सर्व वस्त्र - दोनों तरफ से वस्त्र को देखे।

गा. 238 (v) चींटी वि. जीव नहीं दिखने पर प्रस्फोटन करे, जीव दिखने पर पहले संक्रामण करे फिर प्रस्फोटन करे।

गुरु. प्रस्फोटन विधि -

गा.239 (प्रति द्वार) (क) अनर्तित (ख) अवलित (ग) अननुबंधि (घ) अमोसलि (ङ) षट्पूर्व (च) प्राणिप्रमार्जन (ठाण में)

गा. 240 (क) शरीर या वस्त्र नचाए बिना (ख) शरीर या वस्त्र मोड़े बिना (ग) निरन्तर न करे अर्थात् बीच अंतर सहित करे (घ) तिरछी-ऊपर-नीचे या शरीर से संघट्टे बिना करे।

गा. 241 तिरछी संघट्टा-दिवाल पर, ऊपर-माल व., नीचे-भूमि आदि पर।

गा. 242 (ङ) षट्पूर्व-तिरछे वस्त्र को 6 भाग में दोनों तरफ देखना। फिर 3-3 के अंतर से हाथ पर प्रमार्जना

गा. 243 (vi) (च) और हाथ पर सम्मान वर्ण के अदृश्य सत्त्व की रक्षा के लिए और भूमि पर प्रत्युपेक्षणा के बाद प्रमार्जना करना।

अव. गा. 244 विधि की प्रधानता से पडिलेहण कहकर अब प्रतिषेध की प्रधानता से कहते हैं- (विधिप्रतिषेधविषयत्वाद् धर्मस्य) [पडिलेहन के दोष -]

गा. 245 (प्रति द्वार) (i) आरभडा (ii) सम्मर्दा (iii) अस्थानस्थापना (iv) प्रस्फोटना (v) विक्षिप्ता (vi) वेदिका

गा. 246 (i) वितथकरण, प्रस्फोटनाद्यन्यद्यासेवन, द्रुतं, आधा पडिलेहन कर अन्य वस्त्र लेना प्रत्युपेक्षणा

(ii) वस्त्र के अंदर कोणों को नहीं देखना

गा. 247 (iii) गुरु के अवग्रहादि में रखना (iv) धूल से गंदे वस्त्र को अयतना से झटकना

(v) विविध प्रकार से कपड़ों को फेंकना, डालना

गा. 248 (vi) वेदिका - 5 प्रकार ऊर्ध्व (घुटने के ऊपर हाथ रखना), अधो (घुटने के नीचे रखना), एकतो (एक जानु के अंदर, एक हाथ बाहर), द्वितो (दोनों हाथ बाहर), अंतोवेदि (दोनों हाथ अंदर रखना)

गा. 249-54 ढीला पकड़ना, एक कोने से ग्रहण करना, भूमि या हाथ पर झटकना, 3 से अधिक बार धूनना, बहुत वस्त्र एकसाथ धूनना, गिनते-गिनते धूनना। आदि

गा. 255-59 पडिलेहन के काल की चर्चा।

→ उस वस्त्र पडिलेहन करने पर सूर्य डूबे, उस प्रकार पडिलेहन करना चाहिए,

अव. अतिपर्यास -

गा. 260-61 (i) पृच्छाविपर्यास - गुरु → क्षपक → ग्लान → शैक्षक → वैयावृत्यकर → स्वयं की उपधि

b. प्रमार्जना द्वार & पात्र प्रत्युपेक्षणा

(ii) उपकरणा विपर्यास- (क) यथाकृत → अल्पपरिकर्म → बहुपरिकर्म वस्त्र

(ख) पूर्वाह्ण में - पहले उपधि → भाजन / अपराह्ण में → पात्र → उपधि

→ अपवाद - श्रावक होने पर अनुचित उपधि में विपर्यास कर सकते हैं।

अव. उपसंहार -

गा. 262 अप्रत्युपेक्षित या अविधि से प्रत्युपेक्षित उपधि होने पर आज्ञाभंग, अन आदि दोष होते हैं इसलिए प्रत्युपेक्षणा यथागमं करना चाहिए।

अव. b. प्रमार्जना द्वार

गा. 263 सुबह पहले प्रत्युपेक्षणा फिर प्रमार्जना, शाम को पहले प्रमार्जना फि प्रत्युपेक्षणा करना चाहिए।

गा. 264 गीतार्थ द्वारा एकाग्रमन से वसति प्रमार्जना की जानी चाहिए।

अव. दंडासन के लक्षण -

गा. 265 कोमल, दशी वाला, चिकनाई - पसीना - मैल से रहित, प्रमाणोपेत, विधि पूर्वक बंधा हुआ दंडासन।

अव. अप्रमार्जना के दोष -

गा. 266 लोकनिंदा, प्राणिघात (घृत में संसक्त), उपधि की प्राप्तिनता [उपधि धो नहीं धोने के दोष] काय - आत्म विराधना)

अव. पात्र प्रतिलेखन विधि - (काल -)

गा. 267 पहले प्रहर का चौथा भाग शेष रहने पर पात्र पडिलेहन करना चाहिए।

गा. 268 अनागत या अतिक्रान्त काल में या अविधि से पुतिलेखन करने में आज्ञाभंगादि दोष। प्रतिलेखन कर गुरु को प्रणाम कर स्वाध्याय करना

अव. विधि -

गा. 269 पात्र (बंधे हुए) को एक हाथ दूर रखे। मुहपत्ति से पडिलेहन कर ओत्रादि इं से उपयोग दे।

→ अवत्थंडिकरण कज्जं ज किंच सज्झायरतं गीयत्था थेरावराहद्धहुगुण सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥ 270 ॥
→ ण किंचि अणुण्णायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। तित्थगराणं आणा कज्जे सव्वेण होयव्वं ॥ 271 ॥

PAGE NO. 16

DATE

गा. 270 (पात्रे खोलकर) मुहपत्ति से गुच्छे का पडिलेहन करे, फिर अंगुलि में गुच्छे ग्रहण करे। पल्ले पडिलेहन करे (केचित् उत्कुटुक)।

गा. 271 झोली के चारों कोणों को प्रमार्जे। पात्र (रत्तांजलु में बांधे हुए) को प्रमार्जे, प्रमार्जकर हाथ में ले। पूंजणी से पात्र अंदर-बाहर उबार प्रमार्जे। फिर पात्र का पुष्पक (पडघी) प्रमार्जकर नीचे रखे।

अव. पूंजने का कारण -

गा. 272 (प्रति द्वार) (i) चूहे द्वारा खोदी गई मिट्टी (ii) घन संतान (जाले) (iii) पानी (iv) मिट्टी घुसने की संभावना के कारण।

गा. 273 (i) गाँवों में चूहे सचित्त मिट्टी को दूर-दूर तक खोद देते हैं, उनकी उनसे उड़ी धूल, मिट्टी (iii) कोई स्निग्ध पृथ्वी वाले देश में हरतनु (जमीन से निकलने वाला पानी) गुच्छे- झोली- पल्ले यावत् पात्र तक भी पहुँच जाता है।

गा. 274 (iv) कोई जीवों के घर की मिट्टी (ii) घन संतान (जाले) पात्र में हो सकते हैं।

अव. यतना कहते हैं -

गा. 274-5 सचित्तरज की प्रमार्जना करे, हरतनु सूख जाए तब तक रहने दे, जाले गृहस्थ से साफ कराए, गृहस्थ न हो तो उतना भाग छेदकर अत्यंग रख दे, पात्र का कार्य न हो तो पूरा पात्र ही छोड़ दे

अव. गा. 271 के आगे विधि Continue -

गा. 276-7 पात्र को अंदर और बाहर से प्रमार्जकर नीचे हाथ से पात्र का कर्ण पकड़कर उल्टे हाथ पर उबार प्रस्फोटन करे, फिर जमीन पर उबार प्रस्फोटन। हाथ पर प्रस्फोटन में जमीन से ५ अंगुल ऊपर रखना है अन्यथा पतनादि देख

गा. 278 इस विधि से पडिलेहन कर पात्र को झोली में बांधकर ऊपर लटका दे, किंतु भूमि पर न रखे। पूर्वाचार्य जमीन पर रखते थे।

c. भिक्षा द्वार सज्झाय के आदेश माँगने का कारण

गा.278-81 विधित्याग की चर्चा।

गा.282 ऋतुबद्ध काल में प्रतिलेखन के बाद उपधि विधिपूर्वक बांधना चाहिए और पात्र को ऊपर धारण करना चाहिए। वर्षाकाल में नहीं बांधना चाहिए और पात्र की स्थापना करना चाहिए।

गा.283 नहीं करने पर दोष- अग्नि में, चोर भय में, राजभय में आत्म-संयम विराधना संभव है।

गा.284-5 दोष घटाए और वर्षाकाल में नहीं बांधने पर अदोष के कारण।

व्याख्यातं b. प्रमार्जना द्वारम्।

अव. c. भिक्षा द्वार -

गा.286-92 सज्झाय के आदेश मांगने की विधि।

अव. आवस्सही बोलने का कारण -

गा.293 निष्कारण वसति से बाहर निकलना साधु को अकल्प्य है इसलिए।

अव. गुरु के पास आदेश मांगने का कारण -

गा.294 गुरु द्वारा नहीं भेजे गए साधु को कारण होने पर भी वसति से निकलना नहीं कल्पता, स्वातन्त्र्येण प्रवर्तातिक्रमात्।

अव. 'जस्सु जोगो' बोलने का कारण -

गा. 295 गुरु को पूछे बिना प्राप्त किया हुआ उपकारक वस्त्रादि भी गच्छ में अकल्प्य।

गा.296 साधुओं को गुरु को पूछे बिना श्वासोच्छ्वास लेना आदि भी अकल्प्य।

अव. आदेश मांगकर साधु क्या करे? -

गा.297 आहारादि में मूर्च्छा रहित, एषणा में उपयुक्त, द्रव्यादि अभिग्रह युक्त, साधु मोक्ष के लिए भिक्षाटन करे, वैयावृत्यादेरपि मोक्षार्थत्वात्।)

अव. अभिग्रह - (द्रव्य से)

गोचरी व्होरने की विधि और द्रव्यादि अभिग्रह

गा. 298 द्रव्य अभिग्रह- लेपवाला या अलेपवाला या अमुक द्रव्य ही लूँगा अथवा अमुक चम्मच, भाले आदि से ही लूँगा।

गा. 299 क्षेत्र- 8 गोचर भूमि में से एक या स्वग्राम-परग्राम के इतने घर से ही लूँगा

अव. 8 गोचरभूमि-

गा. 300
1. ऋजुवी- आदि से शुरुआत कर एक ही Line में गली के अंत तक जाना।
2. गत्वा प्रत्यागति- गली के अंत से शुरू कर एक Line में आदि तक आना।
3. गोमूत्रिका- गाय के मूत्र जैसे Zigzag ∧∧∧।
4. पतंगविधि- पतंगिए के उड़ने जैसे अनियत Randomly।
5. पेटा- पेटी के चार खूणे जैसे गाँव के चार Corner के घर में ही जाना।
6. अर्द्धपेटा- आधी पेटी जैसे गाँव के चार Corner में से कोई 2 Corner में ही जाना
7. अभ्यन्तर संबुक्का- अंदर से शुरू कर बाहर पूर्ण हो, शंख के नाभिवृत जैसे।
8. बाह्य संबुक्का- बाहर से शुरू कर अंदर पूर्ण हो

गा. 301 काल- भिक्षा वेला की आदि में, मध्य में या अंत में ही लूँगा।

गा. 302 भिक्षा काल अप्राप्त या अतीत्त होने पर अप्रीति, अधिकरणादि दोष संभव होने से भिक्षा काल में ही जाना चाहिए।

गा. 303-4 भाव- भाजन से पिंड कुडछाया हुआ हो या डाला हो अथवा गाता हुआ, रोता हुआ अथवा बैठे-बैठे दे या दूर जाता हुआ या पास आता हुआ अथवा अलंकृत या अनलंकृत दे, इस प्रकार के भावों से युक्त वह भाव अभिग्रह।

गा. 305-7 अभिग्रह से होने वाली निर्जरा की चर्चा।

अव. गोचरी व्होरने के बाद की विधि-

गा. 308 शंकितादि दोष को छोड़ते, उपयुक्त होकर सर्वसम्पत्करी भिक्षा के वसति में आए।

→ वसति= शिष्टसाम्राचारी। शिष्टसमाचरणलक्षणा।

कंटकादि परठने की विधि, उपाश्रय प्रवेश विधि,
चोलपट्टा पहनना और काउसग्ग करने की विधि (व. ईर्या द्वार)

गा. 309 भिक्षा ग्रहण करते समय नहीं देखे हुए ऐसे मक्खी, कांटे आदि को साधु पात्र में से परित्याग करे अथवा यदि ग्रहण काल में देखे हो तो भी श्रावकादि होने से नहीं छोड़े थे, उन्हें परठे।

अव. परठवने की जगह -

गा. 310 शून्यगृह या देवकुल में, न होने पर उपाश्रय के द्वार पर परठकर उपाश्रय में प्रवेश करे।

अव. उपाश्रय प्रवेश करने की विधि -

गा. 311 (प्रति द्वार) (i) प्रवेश करते हुए पाद प्रमार्जे (ii) ~~नी~~ निसीहि करे (iii) मंजपिको दंड-उपधि छोड़े (iv) आलोचन के साथ शुद्धि करे।

गा. 312 (i) श्रावक न होने पर पाद प्रमार्जे। (ii) तीन बार निसीहि- मुख्य द्वार, गर्भ और प्रवेश द्वार पर।

गा. 313 (iii) हाथ जोड़कर ललाट पर लगाकर, नीचे झुककर 'नमो खमासमणाणं' बोल प्रणाम करे। पात्र भारी होने पर पात्र प्रणाम करे, हाथ न जोड़े।

गा. 314 (iv) ऊपर-नीचे प्रमार्जना कर दंड उसकी जगह पर रखे। चोलपट्टा उपधि और झोली-पल्ले पात्र पर रखे।

गा. 315 यदि उसे मात्रु जाना हो तो पात्रे अन्य साधु को झणाकर चोलपट्टा पहन मात्रु जाए।

गा. 316-7 (v) उसके बाद योग्य देश में यानि विशोधस्थण्डिल भूमि को चक्षु से प्रत्युपेक्षण पूर्वक रजोहरण से प्रमार्ज कर इरियावही करे।

अव. चोलपट्टा पहनने की विधि -

गा. 318 घुटने से ४ अंगुल ऊपर, नाभि से ४ अंगुल नीचे, दोनों तरफ कोहनी धारण करे। चोलपट्टा अथवा पल्ले भी इस प्रकार धारण करे।

अव. काउसग्ग विधि -

काउसग्ग में दोषों की धारणा

PAGE NO. 19
DATE

e. आलोचना द्वार

गा. 319 योग्य देश में रहकर पैर के आगे भाग में 4 अंगुल अंतर कर सीधे हाथ में मुहपत्ति और उल्टे हाथ में रजोहरण रखे।

गा. 320 इस प्रकार काउसग्ग में वसति से निकलने से लेकर आने तक के पूर्वकर्मादि अतिचार मन में धारे, जिससे गुरु को कह सके।

अव. धारणा की विधि-

गा. 321 धारणा (दोषों की) दो प्रकार से- 1. आसेवना = जिस क्रम से दोष सेवन किए, उस क्रम से 2. आलोचना = पहले छोटे → बड़े → उससे बड़े दोष की आलोचना लेना, इस क्रम से। इन दोनों से चतुर्भंगी-

1. आसेवना से अनुकूल, आलोचना से अनुकूल = दोष पहले छोटा → नाना → बड़ा, इस क्रम से सेवन किए हों और क्रम से ही याद करे।
2. आसेवना ✓, आलोचना × = दोष जिस क्रम से सेवन किए हो, उस क्रम से याद करे और छोटे-बड़े के क्रम से नहीं।
3. आसेवना ×, आलोचना ✓ = जिस क्रम से सेवन किए उस क्रम से नहीं किंतु छोटे-बड़े के क्रम से याद करे।
4. × , × = जैसे याद आए, वैसे याद करे, कोई क्रम बिना।

गा. 322-5 इस प्रकार का शुभ चिंतन ही कर्म क्षय का कारण है इसलिए काउसग्ग में लोगस्स का नियम नहीं है किंतु मात्र शुभ चिंतन का नियम है। c. भिक्षा द्वार d. ईर्या द्वार पूर्ण

अव. e. आलोचना द्वार-

गा. 326 इस प्रकार सभी दोषों को धार कर काउसग्ग पारकर लोगस्स बोलकर भाव से चारित्रपरिणाम को प्राप्त साधु भिक्षा दोषों का निवेदन विधि से गुरु को करे।

अव. गुरु कैसे हो, तब निवेदन न करे-

आलोचना के योग्य गुरु की अवस्था, आलोचना के दोष, अपवा

गा. 327-8 (i) गुरु का चित्त धर्मकथादि से व्याक्षिप्त होने पर (ii) पराङ्मुख होने (iii) विकथादि से प्रमत्त होने पर (iv) आहार करते हुए (v) नीहार करते हुए कभी भी निवेदन न करे।

→ आहार करते हुए होने पर असहिष्णुतादि दोष, नीहार में शंका व प्रेरणादि दोष।

अव. गुरु कैसे हो, तब आलोचना करे -

गा. 329-30 (i) धर्मकथादि व्यापार रहित हो, क्रोधादि से उपशांत हो और आलो सुनने में उपयोग वाले हो तब अनुज्ञा लेकर मेधावी शिष्य निवेदन क

अव. आलोचना के दोष -

गा. 331 (प्रति द्वार) (i) नृत्य (ii) चलन (iii) भाषा (iv) मौक्ष्य (v) ढड्ढर दोषों का त्याग करे और कोराने वाले के हाथ, पात्र-भाजन और व्यापार भी कहे।

गा. 332 (i) नृत्य- हाथ-पैर-भ्रू-सिर-आँख-होंठ आदि को विकार से प्रवृत्त न करे। (ii) चलन - (क) काया से - हाथ शरीर को सविकार न हिलावे (ख) भाव से - अच्छी भिक्षा या दोष न छुपावे।

गा. 333 (iii) गृहस्थ भाषा में न बोले (iv) अव्यक्त भाषा भी न बोले (v) बहुत जो से भी न बोले।

गा. 334 इन दोषों से रहित शिष्य गुरु को अथवा गुरुसम्मत ज्येष्ठ को निवेदन करे, प्रथम भिक्षा से लेकर चरम भिक्षा तक।

अव. अपवाद -

गा. 335 (i) भिक्षाटन से थका हुआ हो (ii) ग्लान की वेला निकल रही हो (iii) गुरु थ हुए हो तब सामान्य से आलोचना करे।

गा. 336 इतना अशन पूर्व-पश्चात् कर्म वाला है, बाकी शुद्ध है इस प्रकार जल्द आलोचना करे।

अव. गुरु को आहार दिखाने की विधि -

गुरु को आहार दर्शन विधि,

PAGE NO. 21

DATE

8. भोजन द्वार

मंडली अनुपजीवक साधु की विधि

गा. 338-40 इस प्रकार आलोचना कर स्वयं के सिर पर मुहपत्ति से प्रमार्जे।

→ सिर पर कोई प्राणि या पुद्गल (बीट आदि) हो, तो वे पात्र में न गिरे इसलिए।

→ फिर पात्रे आस-पास से प्रमार्जे, यदि कोई जीव-जंतु हो तो दूर हो जाए

→ फिर ऊपर-नीचे और तिर्च्छा सभी दिशाओं में देखे क्योंकि ऊपर सर्प, छिपकली आदि हो, नीचे खीला-बिखम जमीन आदि और तिर्च्छे में कुत्ता-बिल्ली, बच्चा, गृहस्थ आदि हो सकते हैं।

→ फिर पात्र हाथ में ले, पीछे देखे (ताकि कोई पीछे से धक्का न मारे) और आधा झुककर गुरु को भक्त पान दिखाए।

गा. 341 गोचरी आलोवने में कोई दोष रह गया हो तो काउसग्ग करे और काउसग्ग में 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा' आदि विचारे।

गा. 342 फिर काउसग्ग के बाद वंदनादि कर एक मुहूर्त तक स्वाध्याय करे। स्वाध्याय करने से वायु-पित्त आदि धातु क्षोभ शांत हो जाते हैं।

9. आलोचना द्वार पूर्ण

उत्त. 8. भोजन द्वार –

गा. 343 साधु- 2 प्रकार 1. मण्डली उपजीवक= जो मांडली में भोजन करता हो।

2. मण्डली अनुपजीवक= जो कारण से मांडली में भोजन नहीं करता।

गा. 344 मण्डली अनुपजीवक गुरु को पूछकर प्राघूर्णक-क्षपक-ग्लान-शिक्षा आदि सभी को मन की प्रीति से निमंत्रण करता है। इस प्रकार आग्रहत्यण और साधर्मिक वात्सल्य होता है।

गा. 345 फिर गुरु प्राघूर्णक को भोजन दे अथवा गुरु न हो तो गुरुसंदिष्ट ज्येष्ठ प्राघूर्णक को भोजन दे। सबका भोजन हो, उसके बाद

मंडली उपजीवक साधु की विधि

PAGE NO.
DATE

शेष जो उद्धरित हो, वह साधु वापरे। शेष थानि उद्धरित + अप्र

अव. यदि अन्य कोई साधु भोजन न इच्छे, तो विधि-

गा. 346-7 तो भी साधु सभी को परिणाम विशुद्धि से निमंत्रण दे, कोई न ले
तो भी निर्जरा ही है।
परिणामविशुद्धि बिना अशन लेने पर भी निर्जरा तो कम होती है

अव. उदाहरण-

गा. 348-49 - जीर्णश्रेष्ठि और अग्निनंदश्रेष्ठी का दृष्टांत)

अव. 50 मण्डली उपजीवक साधु की विधि-

गा. 351 गोचरी गए हुए अन्य साधु जब तक वापस न आए तब तक मंडली
उपजीवक साधु स्वयं की जगह पर 'धम्मो मंगल' आदि पाठ करते हैं।

अव. 'धम्मो मंगल' आदि कहते हैं-

गा. 352 धम्मो मंगल, फिर 'कहण्णुकुज्जा' वाला 2रा अध्ययन, फिर 'संजमे सुट्ठि' व
गाथा तक सभी अवश्य गिनते हैं। अथवा अन्य तीर्थ के साधु भी जगा
प्रमाण पाठ करते ही हैं।

अव. गाथा गिनने के बाद की विधि-

गा. 353 स्वाध्याय के बाद 'रागद्वेष क्षय ही सभी शास्त्रों का सार है' इस प्रकार
मोक्षाभिलाषी बनकर स्वयं आत्मा को ही अनुशासित करते हैं। शिक्षा

अव. क्या शिक्षा देते हैं, वह कहते हैं-

गा. 354 आकुल और गहन ऐसे शिक्षा संकट में तू 42 दोषों से नहीं छला
गया। तो है जीव! अब भोजन करते हुए रागद्वेष से तू न छला
जाए उस प्रकार रहना।

अव. शिक्षा के बाद की विधि-

गा. 355 'संदिसह भगवन्!' कहकर गुरु की अनुज्ञा मांगे। अनुज्ञात होने पर पच्चक्खा

भोजन करने की विधि

पारकर, नवकार गिनकर, व्रणलेपाक्ष आदि लक्षण से राग द्वेष रहित होकर कही जाने वाली विधि से भोजन करे।

→ व्रणलेपाक्षोपङ्गवदसङ्गयोगभर-मात्रयात्रार्थं।
पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च ॥३३॥ प्रशमरति

आहार कितना करना? क्यों करना? कैसे करना? 3 प्रश्न के जवाब इस गाथा में

अब भोजन विधि-

गा. 356 पहले स्निग्ध-मधुर आहार वापरे। फिर अम्ल द्रव्य आदि वापरे। पहले स्निग्ध और मधुर पदार्थ वापरने के कारण -
1. पित्त-वात का क्षोभ शांत करने के लिए 2. बुद्धिबल बढ़ाने के लिए (बुद्धि और बल रहित परलोक साधन करने के लिए समर्थ नहीं) 3. बाद में वापरे और बच जाए तो परठना मुश्किल होता है। परठने में बहुत जीव हिंसा होती है।

गा. 357 पहले अल्पपरिकर्म और बहु परिकर्म पात्रों में रहे स्निग्ध-मधुर द्रव्य वापरे। फिर यथाकृत पात्रे में वापरे। यथाकृत में वापरने से पहले अल्प-बहु परिकर्म वाले पात्रे साफ कर ले। 4. संयम के गौरव की प्रतिष्ठा के लिए यथाकृत बाद में वापरे।

अब पात्र में से कवल ग्रहण की विधि और प्रक्षेप विधि -

गा. 358-9 ग्रहण= पात्र में से कवल हाथ में लेना। प्रक्षेप= कवल मुख में डालना।
ग्रहण करते समय कुकड़ी (मुर्गी) के अंडे जितना या छोटे कवल से खाने वाले पुरुष जितना या मुख विकृत न हो, उतना ही कवल ग्रहण करे।
प्रक्षेप मुख में ही करे, और कहीं नहीं।

अब पात्र में से ग्रहण विधि -

गा. 360 ये 3 प्रकार से भोजन करते हुए साधु को पुत्तर खेद, करक खेद या सिंह भक्षित, 3 में से एक रीति से खाना। मांडली भोजी साधु को पुत्तरखेद या सिंहभक्षित में से एक रीति से खाए। राग-द्वेष रहित भोजन करना।

भोजन करने के कारण

→ पुतर पेटा = पात्र की एक पड खाए। फिर दूसरी ... । ऊपर से नीचे पात्र खाली होगा।

→ करक पेटा = एक तरफ से खाना शुरू करे और दूसरी तरफ खतम।

→ सिंहभक्षित = पात्र गोलाकार खाली होगा। जहाँ से शुरू वहीं खतम।

गा. 361 पुवाही वापरते हुए सुबके। आवाज न करे। खट्टे द्रव्य आदि खाते चबचब आवाज न करे। बहुत जल्दी, बहुत देर न करे। नीचे न गिराए। मन वचन काय से गुप्त रहे।

अव. सधूम-सांगार दोष कहते हैं -

गा. 362 राग सहित वापरते सांगार, द्वेष सहित वापरते सधूम, चारित्र रूपी इंधन जलाने

गा. 363 जितना राग ज्यादा, उतना कर्म बंध ज्यादा। ओदनादि वस्तु जितनी ज्यादा, राग उत ज्यादा। अतः सुंदर द्रव्यों में ही राग कम करने का प्रयत्न अधिक करना चाहिए

गा. 364 वैराग्यादि विशुद्ध भावना सतत भावने से ही राग अवश्य कम होता है।

अव. भोजन करने के कारण -

गा. 365 (क्षार गाथा) 1. वेदना के उपशम 2. वैयावच्च, ईर्यासं. का पालन, संयम 4. प्राण 6. धर्म ध्यान के लि

गा. 366 1. ~~वेदना से~~ बुभुक्षा समान कोई वेदना नहीं है इसलिए उसके उपशम के लिए भोजन करे। वेदना होने पर आर्तध्यानादि का संभव है। 2. बुभुक्षित व्यक्ति से करने में असमर्थ है तथा वैयावच्च निर्जरा के लिए करना चाहिए।

गा. 367 3. भूख होने से आँख में अंधारे आने से ईया स. का पालन नहीं होता। 5. प्रत्युपे आदि संयम दुष्कर होते हैं। 5. प्राण लक्षण भ्रष्ट हो जाते हैं। 6. सूत्र या अर्थ का परावर्तन, अनुस्मरण न हो तो भोजन करने।

अव. व्यतिरेक -

गा. 368 वर्णादि के लिए (शरीर, बल) के भोजन न करे। उपर्युक्त 6 कारण शुद्ध-पुष्ट हो त भोजन करे। शुद्ध-पुष्ट कारण हो तो भी विगई वाला आहार न करे, अतिमात्रा में भी न करे। प्रमाण युक्त भोजन करे।

गा. 369 जो वर्णादि निमित्त से भोजन करता 6 कारण सिवाय भोजन करता है, उसे अशु

तीव्र बंध होता है।

अब. विगई के दोष –

गा. 370 विगइं विगइभीओ विगइगयं जो उ भुंजए साहू। विगई विगइसहावा विगई विगयं बला वल्या णेइ॥

विगइ = जो चेतो विकृति = चित्त को विकृत करने वाला। विगतिभीत = दुर्गति से डरा हुआ

विगइगयं = विकृतिगत = चखी गई है विकृति जिसमें से = निवियाता हुआ अथवा विकृतिगत = विकृति में बना हुआ, उत्पन्न।

अर्थ → जो साधु विकृति या विकृतिगत वापरता है, उसे ~~विकृति~~ चित्त को विकृत करने के स्वभाव वाली विकृति बलात्कार से विगति में ले जाती है। तत्करणपोषणाद्

अब. विगई –

गा. 371 दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मद्य, मधु, मांस, उद्ग्राहिमक (तला हुआ पक्वान्न), ये 10 विगई हैं।

गा. 372 गाय, भैंस, ऊँटनी, भेड़, बकरी – दूध के 5 प्रकार। मनुष्य स्त्री का दूध विगई नहीं है। दही, घी, मक्खन के चार प्रकार – गाय, भैंस, भेड़, बकरी।

गा. 373 तिल, अलसी, कुसुंबी (वनस्पति विशेष), सरसों – तेल के 4 प्र.। महुड़े के फल डोलादि का तेल विगई नहीं है।

गा. 374 द्रव पिंड (ढीला), पिंड (कड़ा) – गुड़ 2 प्र.। काष्ठ निष्पन्न, पिष्ट निष्पन्न – मद्य 2 प्र.। वनस्पति, गन्ना, महुड़ा, दाख से बनती मदिरा काष्ठ निष्पन्न = साधु। आटे से बनती पिष्ट निष्पन्न = सुरा। मधुमक्खी का, कुंतीपर (उड़ते जीव विशेष), भ्रमरों का शहद 39.

गा. 375 जलचर, स्थलचर, खेचर अथवा मांस, चर्बी, खून – मांस 3 प्र.। तेल या घी के पहले उफाण तक तले हुए द्रव्य (पक्वान्न) अवगाहिम।

गा. 376 चौथे उफाण के बाद के द्रव्य विगई नहीं हैं। अतः सर्व विगई के त्यागी साधु को भी कल्पते हैं। किंतु प्रायः वापरने की आचरणा नहीं है क्योंकि चौथे उफाण के

वादके ही हैं या नहीं, यह निश्चय कठिन है।

गा.377 एक ही पुडले से पूरी कडाई ढँक जाए, इस प्रकार तला हुआ पुडला पहले पाण विगई, दूसरे पाण में निविगाता। वह लेपकृत होता है।

गा.378 दही की मलाई विगई है। किन्तु मक्खन निकालने के बाद बची हुई छाछ विग नहीं है। केवल दूध विगई है, जिसमें कुछ न डाला हो ऐसा मक्खन और पक्व भी विगई है।

गा.379 घी के ऊपर जमी परत विगई है। कुछ विस्यंदन (आधे जले हुए घी में चावल डालकर बनता द्रव्य) को विगई मानते हैं। तैल पर जमी परत, गुड़ की चासनी, खांड, साकर विगई नहीं है।

गा.380 मद्य का खोल और शहद का झीण विगई नहीं है। मांस पिंड, जो कालिज्ज कहा जाता है, विगई नहीं है। मांस का भवपव, जिसे रस कहते हैं, अवश्य विगई है

गा.381 खजूर, दाख (अंगूर), अनार, आंबली आदि का गर्भ और जूस विगई नहीं, लेपकृत।

अब निविगाते द्रव्य वापरने की ~~कारण~~ विधि-

गा.382 निविगाते द्रव्य, स्वादिष्ट रस से युक्त द्रव्य को उत्कृष्ट द्रव्य कहते हैं। योगोद्व आदि के कारण किसी साधु का शरीर अशक्त हो तो उत्कृष्ट द्रव्य वापरने की कोई साधु इंद्रियजय करता हो, उसे छूट नहीं।

गा.383 विगई से मोह की उदीरणा होती है। मोह के उदय से चित्तजय करने में अत्यंत तत्पर जीव भी अकार्य में जुड़ जाते हैं।

गा.384 दावानल के मध्य में कौन पुरुष पानी होने पर उपशम के लिए पानी का उप नहीं करेगा? अर्थात् सभी करेंगे। इसी प्रकार मोह रूपी दावानल बुझाने स्त्रीरूप पानी का सेवन कौन नहीं करेगा? अर्थात् सभी करेंगे। भावार्थ- मोह उदय होने पर सभी अकार्य करते हैं।

विगई वापरने की विधि

8. पात्र धावन विधि

अव. विगई का सेवन कौन करे -

गा. 385 जो साधु, देह से दृढ़, रसलोलुपता से विगई वापरता है, उसे निषेध। जो कारण होने पर वापरे, उसे छूट।

अव. विगई कैसे वापरे -

गा. 386 जैसे गाड़ी तेल बिना नहीं चलती वैसे जो साधु विगई बिना संयम न पाल सके तो उसे राग द्वेष रहित होकर कायोत्सर्गादि विधिपूर्वक प्रमाणोपेत विगई वापरना चाहिए।

अव. प्रमाण कहते हैं -

गा. 387 वर्तमान में और भविष्य में संयम योग रूप कुशल व्यापार की परिहानि न हो, उतनी विगई प्रमाणोपेत जानना। अति वापरने से शरीर मोटा होने से और कम वापरने से भूख या अशक्ति से संयम योगों की हानि होती है।

9. भोजन द्वार पूर्ण

अव. 8 पात्रधावन विधि -

गा. 388 भोजन के बाद साधु हाथ मुंह स्वच्छ करे। फिर पात्रे में आहार का अंश न रहे, वैसे स्वच्छ करे। फिर उपाश्रय के बाहर पात्रे धोए। यदि गृहस्थ हो तो पराभव, हत्थकाई न हो इसलिए अंदर भी धोए। पात्र धावन को शास्त्र में 'तिप्प' करना 'तेप्पंति' कहते हैं।

अव. गा. 389 स्वच्छ पानी से पात्रे धोए। उपयोग पात्र और कल्प में रखे। पात्र निरवयव हो जाना चाहिए तथा शुं कल्प भी होना चाहिए। यदि आधाकर्मादि का परिभोग किया हो तो कल्प ज्यादा करे। क्योंकि दूसरे को पता चले तो स्वयं को दोषित आहार में गृद्धि कम हो।

गा. 390 द्वितीय-तृतीय कल्प में यदि कोई अंश पात्र के बाहर त्यागा हो तो उसे पात्र में रहे तीसरे पानी से ही धोए, नया पानी न लें। पात्र टूटने के डर से नया पानी न लें।

गुप्त भोजन एवं पच्चक्खाण लेने का कारण

8. विचार द्वार

अत. 'पात्र बाहर धोए' ऐसा कहने से सिद्ध हुआ कि भोजन गुप्त रीति से करना चाहिए।

गुप्त भोजन का कारण-

गा. 391 साधु पुण्य-पाप दोनों का क्षयार्थी होता है। यदि गुप्त भोजन न करे तो कुछ भिखारी माँगेंगे। साधु उन्हें अनुकंपा से देता है तो पुण्यबंध होता है। पुण्यबंध भी सुवर्ण की बेड़ी समान ईप्सित नहीं है। यदि साधु न दे तो वे भिखारी क्षुद्र होने से शासन की निंदा करेंगे और स्वयं अनर्थ को प्राप्त करेंगे। इस अनर्थ में भी साधु निमित्त होने से दोष होता है। अतः गुप्त भोजन करना चाहिए।

अत. पात्र धावन के बाद -

गा. 392 पात्र धोने के बाद पच्चक्खाण करे। सुबह एकासने के साथ ही तिविहार का पच्चक्खाण लिया था तो भी वापस पच्चक्खाण लेने के 3 कारण - 1. अप्पमाय 2. गुरु आज्ञा का पालन 3. सागारियागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं आउंटणपसारेणं पारिट्ठावणियागार आगार का निरोध के लिए।

9. पात्र धावन द्वार पूर्ण

अब. 10 विचार द्वार, बहिर्भूमिगमन -

गा. 393-4 संज्ञा = पुरीष उत्सर्ग की इच्छा। संज्ञा कालू और अकालू में होती है। कालू उसी पोरसी गोचरी के बाद। बाकी सब अकालू, स्वाध्यायादि की हानि होने से। यदि उच्चार पोरसी ही संज्ञा हो तो गंधरहित पानी, जिस दिशा में स्थंडिल जाना है, उससे अन्य दिशा से लाए, ताकि उस दिशा के लोगों को खबर न पड़े कि ऐसा गंदा पानी लेकर ये स्थंडिल पानी लेते समय पात्र को ओली में रखना जिससे लोगों को खबर न पड़े कि ये स्थंडिल के लिए पानी ले रहे हैं, अन्यथा निंदा होगी।

साधु गंधरहित स्वच्छ प्रासुक की आस वि. पानी लो। ऐसा पानी न मिले तो तीन उकाले वाला साधु अन्य साधुओं को पूछकर पानी लाए क्योंकि पूछे बिना स्वयं का पानी लाए, फिर दूसरा साधु भी साथ में स्थंडिल जाए तो लोगों में निंदा हो। यदि दूसरा साधु पानी लेने न जाए और

स्थंडिल जाने की विधि

PAGE NO. 29
DATE

स्थंडिल रोकने से भावसन्न होने पर 423 गाथा के दोष।

साधु अन्य साधुओं को पूछे विनंती करे- हे आर्य! आप में से किसी को स्थंडिल के लिए पानी की जरूर है? जितने साधु कहे, उस प्रमाण में पानी ले। यदि दो जन हो तो 3 जितना पानी लाए। बहुत हो तो बहुत पानी लाए।

पानी लेकर पैर पूंजे, दंड रखकर पानी आलोवे। गुरु को कहे कि मैं बाहर जा रहा हूँ, दूसरे साधु को भी पानी आने का कहे।

यदि अकेले जाना हो तो दो गुना पानी ले। दंड लेकर आवस्सही कहकर जाए।

अव. गा. 395-7 उत्कृष्ट काल संज्ञा (भोजन के बाद) की विधि-

पात्र धोकर स्वयं के संघाटक को दे दे। फिर स्वयं मात्रक में 3 जन का पानी लेकर संघाटक के साथ स्थंडिल जाए। संघाटक स्वयं दो पात्रे संभाले। फिर वह स्थंडिल जाकर आए तब वह पात्रे संभाले और संघाटक मात्रक लेकर जाए।

इस प्रकार दो-दो साधु स्थंडिल जाए।

अव. गा. 398 स्थंडिल जाने की विधि और डाल लेने की विधि-

जाते हुए समश्रेणि न चले, आगे-पीछे चले। जल्दी न चले। विकथा न करे। ईर्यासमिति का पालन करे। पहुँचकर अनापात-असंलोक भूमि में जाए। ऐसी भूमि न मिले तो अन्य भूमि में जाए।

डाल लेने के लिए संडासे पूंजकर नीचे बैठकर डाल ग्रहण क्योंकि नीचे बैठने से जीव जंतु बराबर दिखते हैं।

डाल-2 प्रकार। 1. संबद्ध- जो जमीन से जुड़े हो। असंबद्ध- जो छूटे पड़े हो। संबद्ध ग्रहण न करे क्योंकि उनके नीचे जीव होने की संभावना ज्यादा है। असंबद्ध-3 प्र.। 1. उत्कृष्ट- सपाट और चिकने 2. मध्यम- पाषाण वि. 3. जघन्य- ढेला। लेने के बाद 3 बार जमीन पर ठोके जिससे छोटे-छोटे जंतु गिर जाए।

जिसे कठन हल्के हो वह 2, जिसे ढीला हल्के हो वह 3 या अधिक डाल ले। जिसे भसा या

स्थंडिल भूमि के भेद

भगंदर हो वह ग्रहण न करे।

अत. स्थंडिल भूमि के भेद -

गा.399-400 (द्वारगाथा) अनापातवाली भूमि= प्राकृत होने से मतु का लोप - 1 अनापात और असंलोक, 2 अबुपघाती, 3 सम= विषमतारहित, 4 अशुषिर, 5 अचिरकालकृत = स्वल्पकालनिविष्ट, 6 विस्तीर्ण, 7 दूरावगाढ = गंभीर, 8 नासन्ने = न अतिसमीप, 9 बिलवर्जित, 10 त्रसप्राणिबीजरहित भूमि में उच्चार प्रस्रवण श्लेष्म को वोसिराए।

गा.401 10 भेदों के परस्पर 1024 भांगे होंगे।

गा.402-405 1024 भेद की गिनती।

~~अत~~ गा.406 पहले द्वार के 4 भांगे - (i) अनापात - असंलोक (ii) अनापात - संलोक (iii) आपात - असंलोक (iv) आपात - संलोक।

गा.407-412

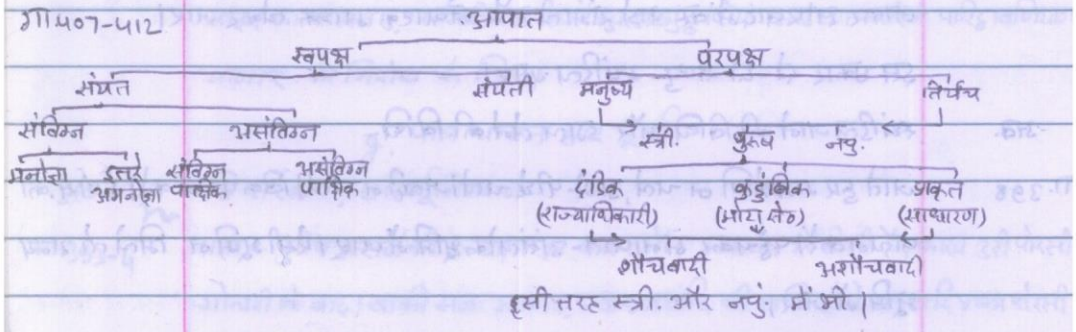

इसी तरह स्त्री. और नपुं. में भी।

तिर्यंच के विशेष भेद → जुगुप्सित और अजुगुप्सित - तिर्यंच स्त्री. (चोरी, गाय)

दृप्त (आसनेवाली) अदृप्त (शांत)
उत्कृष्ट जघन्य मध्यम

संविग्न= उद्यतविहारी, असंविग्न= शिथिलाचारी। मनोज्ञ= एकसामाचारीस्थिता, अमनोज्ञा= असामाचारीवाले

अत. किस भूमि में जाना -

गा.413 स्वपक्ष संयत संविग्न मनोज्ञ आपातवाली भूमि में जाना चाहिए। अमनोज्ञ भूमि में जाने से नूतन दीक्षितों में परस्पर सामाचारी को लेकर झगड़ा होगा। असंविग्न आपात भूमि में जाने से शिथिलाचार को प्राप्त पानी अवापरता देखकर नूतन दीक्षित सोचेगा, येभी तो साधु हैं अतः ये अच्छे हैं। इस

पास चले जाएगा। संयती आपात भूमी में तो जाना ही नहीं चाहिए।

अव. परपक्ष पुरुष आपात वाली भूमि के दोष -

गा. 414 कभी कोई शंका करे - जहाँ हमारे स्वजन - स्त्री जाते हैं, वहाँ ये साधु जाते हैं। अतः ये हमारा अपमान करते हैं अथवा ये स्त्रियों की इच्छा करते हैं या कोई स्त्री को संकेत दिया होगा।

गा. 415 अल्प पानी तथा गंदा पानी होने से वे निंदा करे, तद्वत्य या अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद करे, धर्म से विमुख हो जाए।

अव. स्त्री. नपुं आपात वाली भूमि के दोष - कोई स्त्री. नपुं. साधु को जबरजस्ती पकड़ ले तो

" लोग साधु पर या स्त्री. नपुं. पर शंका करे। यदि कोई साधु स्त्री या नपुं. के साथ मैथुनसेवे और कोई देख ले तो शासन की निंदा तथा साधु भी दीक्षा छोड़े या आत्महत्या करे।

अव. तिर्यंच आपात वाली भूमि के दोष -

गा. 416 दृप्त तिर्यंच आपात में वह साधु को मार भी सकता है। जुगुप्सित तिर्यंच (घोड़ी आदि) के आपात में लोगों को मैथुनादि शंका इत्यादि दोष।

अव. संलोक वाली भूमि के दोष -

" मनुष्य संलोक में मनुष्य आपात की तरह ही दोष। तिर्यंच में वे दोष नहीं होते।

गा. 417 पुरुषालोक में गंदा पानी या पानी न होने पर निंदा करे आदि दोष। स्त्री. नपुं. आलोक में वे ही दोष तथा वातादि से विकृत हुए लिंग को देखकर कभी स्त्री. नपुं. उत्कट इच्छा से साधु को उपद्रुत करे।

गा. 418 इसलिए गाथा 6 में बताए हुए 4 भांगे में से उत्तम भांगे में जाना चाहिए।

1. अनापात - असंलोक द्वार पूर्ण

अव. 2. अनुपघात द्वार। उपघात वाली भूमि के दोष -

गा. 419 उपघात 3 प्रकार (i) आत्मोपघात - उद्यानादि क्योंकि उद्यान का मालिक साधु को मारेगा ति

(ii) पक्षोपघात - वर्च्च स्थान (उकरड़ा), उकरड़े में जाने से शासन निंदा, ये साधु गंदे हैं इत्यादि

(iii) संयमोपघात - अग्नि स्थान आदि। यदि साधु अग्नि स्थान में स्थंडिल जाएगा तो वह

दूसरी जगह आग्नि जलाएगा, जिससे ज्यादा जीवों का घात होगा।

अव. 3. सम 4. अशुषिर द्वार-

गा. 420 विषम स्थान में बैठने से साधु गबड़ी जाय अथवा पुरीष मूत्र के रोके जीव विराध
घास से ढंकी शुषिर वाली भूमि में नीचे केकड़ा, सांप वि. जीवों से आत्मविराधना त
पुरीष मूत्र से त्रसादि की विराधना।

अव. 5. अचिरकाल कृत -

गा. 421 जो भूमि जिस ऋतु में अग्नि से निर्जीव करी हो वह उस ऋतु में ही अचिरकालकृत
जैसे हेमन्त ऋतु में कोई भूमि शुद्ध करी हो वह उसी ऋतु में शुद्ध, फिर ग्रीष्मादि में वा
सजीव हो जाती है। जिस भूमि पर 4 महीने तक गाय बसा हो, वह 12 वर्ष तक
(वर्षा में)
अचिरकालकृत है।

अव. 6. विस्तीर्ण 7. दूरावगाढ़ -

गा. 422 6. विस्तीर्ण- चारों तरफ एक हाथ तक अचित्त जघन्य। 12 योजन तक अचित्त उत्कृष्ट,
जब चक्रवर्ती की सेना पड़ाव डाले तब। बीच की मध्यम।

7. नीचे 4 अंगुल तक अचित्त जघन्य। उससे आगे उत्कृष्ट।
4 अंगुल तक अचित्त भूमि में ठल्ले करे, मात्रु न करे।

अव. 8. आसन्न द्वार -

गा. 423 आसन्न द्वार - 2 9। द्रव्यासन्न- घर, देवमंदिर आदि के पास ठल्ले करना (i) संयम वि
लोग उस स्थान को साफ करे, पानी से धोए (ii) आत्म विरा.- लोग मारे वि।
भावासन्न - तीव्र संज्ञा हो। भावासन्न होने के कई दोष हैं- भागते हुए साधु को देख
श्वान प्रणाम वि. हंसते हैं, वे साधु को रोककर धर्म पूछते हैं, यदि धर्म कहे तो मृत्यु या रोग,
बीच में ठल्ले को जाए तो प्रवचन उपघात। पानी कम ले या गंदा ले या न ले तो
शासन निंदा। इस प्रकार भावासन्न को आत्म विरा. संयम विरा. प्रवचन विरा. दोष
अस्थंडिल में ठल्ले जाने से।

अत. 9. बिलवर्जित द्वार - १०. त्रसप्राणि बीज रहित द्वार -

गा. 424 9. बिलवाली भूमि में २ दोष - (i) सर्पादि से आत्मविरा (ii) चींटी वि. पड़ने से संयम विरा.

कृमि वि. त्रसजीवों तथा शालि वि. बीज से व्याप्त होने पर भी संयम विरा. वि. दोष।

इस प्रकार एकसंयोगी भांगे के दोष कहे। द्विक आदि संयोगी में दोष सविशेष होते हैं।

अत. शुद्ध स्थंडिल में व्युत्सर्ग विधि -

गा. 425 (द्वार) 1. दिशा, पवन, ग्राम और सूर्य को पूंठ न करे। यदि स्थंडिल में कृमि हो तो छाया में, अन्यथा धूप में बैठे। ३ बार भूमि प्रमार्जे। अणुजाणह जस्सुग्गह बोले। बैठकर मल विसर्जन करे। फिर शुद्धि करे।

गा. 426 1. उत्तर और पूर्व दिशा पूज्य है। इसलिए कभी भी पीठ न करे। रात में दक्षिण दिशा में राक्षस सामने आते हैं, अतः रात में दक्षिण दिशा को भी पीठ न करे। यदि हवा की दिशा में पीठ कर बैठे तो मल की गंध नाक में जाए, जिससे मरा होने की संभावना है तथा लोक में निंदा भी होती है, अतः पवन को पीठ न करे। ग्राम और सूर्य को पीठ देने से लोक में निंदा होती है, अतः ~~ग्रा~~ पीठ न करे।

गा. 427 2. यदि कृमि हो तो छाया में बैठे। छाया न मिले तो धूप में इस तरह बैठे की मल पर स्वयं की छाया पड़े। मल त्याग करने के बाद भी एक मुहूर्त तक मल पर छाया कर खड़ा रहे, जिससे कृमि के जीव आयुष्य पूरा करें।

गा. 428. 3. बैठने के पहले ऊपर (वृक्षादि पर), नीचे (जमीन पर बिल, जीव-जंतु) तथा तिर्च्छा (मनुष्यादि) देखें। फिर गृहस्थ न होने पर पैर प्रमार्जे। फिर भवग्रह भांगकर, दंडासे प्रमार्जकर नीचे बैठे। बैठकर

अपवाद

उबार भूमि का दृष्टि पडिलेहन करे।

गा. ५२९ ५. बैठकर रजोहरण और दंड बाईं जांघ पर रखो। मात्रक दाएं हाथ में रख बाएं हाथ में डाल रखे। डगल से अपान को वहीं पर या अन्यत्र लूछे। कुछ कहते हैं-वहाँ लूछने पर हाथ खरड़ा जाता है अतः अन्यत्र ही लूछना चाहिए। अन्यत्र जगह अतिदूर या अति समीप नहीं होना चाहिए। वहाँ पर पूंजकर बैठे। फिर पानी से उबार शुद्धि करे। यदि कोई गृहस्थ देखता हो तो संपूर्ण हाथ-पैर का अच्छे से प्रक्षालन करे, मात्रक भी धोए।

अव. अनापात-असंलोक वाली भूमि न हो तो अपवाद-

गा. ५३० यदि प्रथम भांगे वाली भूमि न हो तो अमनोज्ञ-असंविग्न के आपात वाली भूमि, न हो तो गृहस्थ आलोक वाली भूमि में जाए। वहाँ अपान और पैर धोने के लिए बहुत पानी ले।

गा. ५३१ वह भी न हो तो अशौचवादी पुरुष के आपात वाली भूमि, न हो तो स्त्री.नपुं. आलोक वाली भूमि में जाए। वहाँ जिधर से स्त्री.नपुं. देखें, उससे उल्टी दिशा में मुख रखे तथा पानी का उपयोग अधिक करे।

गा. ५३२ वह भी न हो तो तिर्यंच स्त्री.नपुं.पु. के आपात वाली भूमि में जाए, किन्तु दृष्ट जुगुप्सित का त्याग करे।

गा. ५३३ वह भी न हो तो स्त्री.नपुं. आपात वाली भूमि में जाए। खाँसी वि. आवाज करते करते तथा परस्पर बोलते-बोलते जाए एवं जल्दी से जाए जिससे लोक शंका न करे।

विचार द्वार. पूर्ण

अव- दोपहर के पडिलेहन की विधि-

गा. ५३४ स्थंडिल भूमि से आकर यदि पथा प्रहर चालू हो गया हो तो प्रतिलेखन अन्यथा स्वाध्याय करे।

गा. ५३५ प्रतिलेखन विधि सुबह के समान समझना। जो कुछ विशेष है, वह कहते हैं

दोपहर के पडिलेहन की विधि

i. स्थंडिल भूमि के २५ भेद

PAGE NO. 35

DATE

गा.५३६ पडिलेहन करने वाले २ १. भक्तार्थी- जिन्होंने दिवस में आहार किया है।
2. अभक्तार्थी- जिन्हें उपवास है। दोनों ही मुहपत्ति और शरीर के पडिलेहन से शुरु करे।

गा ५३७ जो अभक्तार्थी हैं, वे गुरु-~~ज्ञान~~ तपस्वी- ग्लान- शैक्षक आदि का पडिलेहन कर, गुरु से आदेश माँगकर ~~स्वयं की उपधि~~ पहले पात्रे, फिर मात्रक, फिर उपधि और अंत में चोलपट्टे का पडिलेहन करे।

गा.५३८ जो भक्तार्थी है, वह शरीर के बाद चोलपट्टे का → मात्रक → पात्र → गुर्वादि की उपधि → आदेश मांगकर → शेष उपधि → पात्र के वस्त्र → अंत में रजोहरण।

प्र. भक्तार्थी को चोलपट्टा पहले, अभक्तार्थी को बाद में क्यों? उ. क्योंकि कभी अनुपयोग से वापरते समय भक्तार्थी का चोलपट्टा खराब हो तो साफ कर लें। प्र. भक्तार्थी को पहले मात्रक फिर पात्र, अभक्तार्थी का पहले पात्र फिर मात्रक क्यों? उ. १. मात्रक को विशेष सुखाने के लिए 2. जीत कल्प, परंपरा से।

अव. पडिलेहन के बाद -

गा.५३९ प्रतिलेखन के बाद साधु स्वाध्याय करे क्योंकि सूत्र ही साधु के लिए धन समान है। अथवा साधु संबंधी वैयावच्च वि. अन्य कार्य करे।

गा.५४० चौथे प्रहर का चौथा भाग बाकी होने पर कालग्रहण का प्रतिक्रमण कर, ~~२~~ २५ प्रकार की स्थंडिल भूमि का दृष्टि पडिलेहन करे।

अव. i स्थंडिल भूमि के २५ भेद -

गा.५४१-२ ठल्ले लगने पर आराम से जा सके ऐसे आंगन के अंदर ही नजीक, मध्य, दूर ~~ठल्ले~~ आवासन्न होने पर दुःखपूर्वक जा सके ऐसे आंगन के अंदर ३ स्थान।
ठल्ले लगने पर आराम से जा सके ऐसे आंगन के बाहर ३ स्थान।
आवासन्न होने पर आंगन के बाहर के ३ स्थान।

स्थंडिल पडिलेहन के बाद की विधि

इस प्रकार ठल्ले के 12 स्थान + मात्रु के 12 = 24 स्थान।

→ इसके बाद काल की 3 भूमि का पडिलेहन करे, तब तक सूर्यास्त होगा

भव. ¿ आवश्यक द्वार-

गा. ५५३-५ यहाँ पर गीतार्थ गुरु गच्छ में घोषणा करे कि काल, गोचरचर्या, स्थंडिल वस्त्र-पात्र पडिलेहन आदि आवश्यक कार्य सभी याद करें। यदि किसीक कुछ विधि बाकी हो तो अभी पूर्ण करे, काल जा रहा है। सभी साधु दिन-चर्या का स्मरण करे।

गा. ५५५ यदि गुरु श्रावकादि के साथ धर्म कथा से निवृत्त हो गए हो तो सभी गुरु के साथ प्रतिक्रमण करे। यदि गुरु धर्म कथा में व्यस्त हो तो गुरु बाद में आवश्य भूमि में आए।

गा. ५५६ सभी साधु गुरु को पूछकर स्थंडिल भूमि में पहुँचकर गुरु न आए तब त यथाशक्ति कायोत्सर्ग करें। (आवश्यक) सभी पर्याय के क्रम से बैठें। कायोत्सर्ग में सू और अर्थों का स्मरण करे। फिर गुरु आए तो कायोत्सर्ग में दिवस संब अतिचार सोचे।

गा. ५५७ अशक्त, बाल, वृद्ध या रोगी साधु शक्ति न होने पर भी आवश्यक भूमि ही बैठकर निर्जरा की अपेक्षा से प्रतिक्रमण करे।

गा. ५५८ साधु कायोत्सर्ग में ही करेमि भंते बोलेकर दैवसिक ~~अतिचार~~ निंदे। फिर गुरु आकर करेमि भंते बोले तब गुरु के साथ दैवसिक अतिचार चिंतवे।

गा. ५५९ अन्य मत।

गा. ५६० फिर गुरु दो बार विचारे, उतने समय में बहुत व्यापार होने से साधु एकबार भ सोचेंगे।

गा. ५६१ कांटे वाले मार्ग में चलने से जैसे उपयोग होने पर भी कांटे लगते हैं, वैसे उपयु होने पर साधु को अतिचार लगते हैं। अतः मुहपत्ति पडिलेहन आदि क्रियाओं में

प्रतिक्रमण विधि

आलोचना के लाभ

PAGE NO. 37

DATE

सभी अतिचारों को धारते।

गा.५५२ मोक्ष के अभिलाषी, रागादि से रहित होकर साधु-चारित्र को निर्मल करने के लिए चारित्र के परिणाम से ही दोषों को चित्त में धारे।

गा.५५३ (द्वार) १. नमो अरिहंताणं कहे, २. लोगस्स बोले, ३. वंदन करे, ४. आलोचना करे, ५. प्रतिक्रमण करे, ६. वंदन करे, ७. दुरालोचित और दुष्प्रतिक्रान्त विषयक काउसग्ग करे।

गा.५५४ १. नमो अरिहंताणं बोलकर काउसग्ग पारे २. इपयुक्त होकर लोगस्स बोले।

गा.५५५ ३. संडासे (संदंश शब्द) प्रमार्जन कर नीचे बैठे। मुहपत्ति और काया का पडिलेहन उपयोग पूर्वक करे।

गा.५५६ सर्व प्रकार से शुद्ध, दोष रहित, परम विनय से (अरिहंत द्वारा कहे हुए) वंदणा दे

~~अब.~~ अब. गुरु वंदन के कारण –

गा.५५७ (i) आलोचना लेने में (ii) प्रश्न पूछना हो (iii) गुरु पूजा करना हो (iv) स्वाध्याय करना हो (v) अपराध खमाना हो तब। गुरुवंदन विनय का मूल है।

गा.५५८ ४. आलोचना – वंदन के बाद भूमि विन्यस्त होकर, दोनों हाथ में रजोहरण पकड़कर, उपयोग पूर्वक क्रमशः विचारे हुए अतिचारों की आलोचना करे।

गा.५५९ संसार-उद्विग्न होते हुए, विशुद्ध भाव वाले होते हुए, आत्म शुद्धि के लिए, पृथ्वी आदि के संघट्टरूप सूक्ष्म और बादर अतिचारों को आलोचे।

गा.५६० साधु संवेग प्राप्त कर आचार्य को स्वयं के दोष कहे। अन्य साधु कोई आलोचना करना भूल गए हो तो उन्हें याद कराए। → संवेग प्राप्त करने के लिए पंचाशक प्रकरण, आलोचना पंचाशक गा.५२-५८।

अब. आलोचना का लाभ –

गा.५६१ कयपावोऽवि मणूसो, आलोइय-निंदिय-गुरुसगासे। होइ अइरेगलहुओ, ओहरिय-भरोव्व भारवहो॥ जैसे भारवह भार उतार कर वैसे पापी मनुष्य भी गुरु के पास आलोचना और पापों की निंदा कर अतिशय हल्का हो जाता है।

प्रतिक्रमण सूत्र बोलने और गुरु को खमाने की विधि

PAGE NO
DATE

अव. इस बात को युक्ति से घटाते हैं:-

गा.५६२ अशुभ योगों से पाप ही बंधाते हैं। जो महासत्त्वशाली इन योगों को सुप्रणि करता है, उसके पाप क्षय पामते हैं।

गा.५६३ जो चिकित्सा जिस तेलादि से उत्पन्न होती है, वह उस तेलादि के त्याग से होती है। ऐसे ही कर्म भी अशुभ योगों के त्याग से शुभ होता है।

गा.५६५ अशुभ कर्मोदय से हुए पाप को तुरंत ही शुभ पुरुषार्थ कर आलोचना (गुरु स प्रगट करना), निंदा (आत्मसाक्षी से) और गर्हा (गुरुसाक्षी से निंदा) से नाश करन चाहिए और दूसरी बार नहीं करना चाहिए।

गा.५६८ उस पाप का गीतार्थ गुरु जो प्रायश्चित्त दे, उसे पूर्ण करना चाहिए।

अव. आलोचना विषयक प्रासंगिक बात कह कर प्रतिक्रमण की विधि कहते

गा.५६६ 5. दोष को गुरु को कहकर, प्रायश्चित्त स्वीकार आधु प्रतिक्रमण सूत्र कहे।

गा.५६७ सूत्र पदों के क्रम से बोले। सूत्र और अर्थ में अत्यन्त उपयुक्त होकर बोले। देश-प्रशाक वि. बोले पर ध्यान न दे।

गा.५६८ 6. प्रतिक्रमण करके वंदन कर आचार्यादि को सभी गुणवान् साधु सम्यक् परि से खमाए।

गा.५६९-५७१ 'आयरिय-उवज्झाए' सूत्र।

परिणाम के वश से आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण के प्रेरे जो कोई कषाय हो, उन सभी को आचार्यादि समक्ष मैं त्रिविध से खम हूँ अर्थात् क्षमा माँगता हूँ।

सिर पर अंजलिकर सभी श्रमण संघ को मैं क्षमा माँगकर, मेरे प्रति उनके सभी अपराधों का माफ करता हूँ।

भाव से धर्म में चित्त निहित कर मैं सभी जीवराशि से क्षमा माँगकर उन अपराधों को माफ करता हूँ।

गा.५७२ इस प्रकार के परिणाम वाले होकर परमार्थ से सभी साधु आचार्य को खमे। यदि आचार्य से अन्य कोई पर्याय ज्येष्ठ हो, तो पहले उन्हें खमे। अन्य मत से शिष्यादि की श्रद्धा भंग न हो इसलिए आचार्य को ही खमे।

गा.५७३ आचार्य-उपाध्याय को खमाकर शेष साधु यथाक्रम खमाए। विपरीत करने में, नहीं करने में या विकल्प करने में आज्ञाभंगादयः दोषाः।

गा.५७५ दो साधु शेष रहे वहाँ तक खमाना चाहिए किंतु आचरणा तो दैवसिक अति. में गुरुसहित ३ और पाक्षि में ७, चातु-सांवत्सरिक में ७ को खमाने की है।

गा.५७६ धृति (मानसिक बल) और संघयण (शारीरिक बल), शास्त्रोक्त मर्यादा को जानकर गीतार्थ शिष्य और अगीतार्थों के विपरिणाम की निवृत्ति के लिए आचरित कल्प की स्थापना करते हैं।

गा.५७६ राग-द्वेष रहित ऐसे गीतार्थ ने पुष्ट कारण से असावद्य आचरण किया हो और योग्य होने से अन्य गीतार्थों ने निषेध न किया हो वह आचरित कल्प है।

गा.५७७ आलोचना, पच्चक्खाण और श्रुत के लिए ज्येष्ठ भी पर्याय से छोटे आचार्य को वंदन करे परंतु प्रतिक्रमण में तो आचार्य ही ज्येष्ठ को वंदन करे।

गा.५७८ खमाकर कुछ अतिचार दुरालोचित या दुष्प्रतिक्रान्त हो, उनके निमित्त काउसग्ग करे। (कुछ अतिचारों की आलोचना या प्रतिक्रमण बराबर न हो तो)

गा.५७९ जीव तो प्रमाद की भावना से भावित है, अतः आलोचना या प्रतिक्रमण में भी प्रमाद संभव है, कोई अतिचार दुरालोचित रह जाए तो उसके लिए काउसग्ग करे।

गा.५८०-८१ उस काउसग्ग में भी वह सूक्ष्म प्रमाद तो आएगा, अतः उसके लिए फिर काउसग्ग करना पड़ेगा, अनवस्था दोष - पूर्वपक्ष - उत्तरपक्ष चर्चा। इस गाथा ५८३ पूर्ण

काउसग्गों का क्रम और कारण
वंदन और कारण

गा. ५८२ (द्वार) यह 1. चारित्र का काउसग्ग (दूसरा), 2. तीसरा दर्शन शुद्धि, 3. चौथा ज्ञान शुद्धि के लिए। फिर 4. सिद्धों की स्तुति, फिर 5. वंदन।

→ अतिचार का काउसग्ग पहला।

गा. ५८३ 1. प्रतिक्रमण, वंदन के बाद धर्म प्रेमी और सदय भीरु साधु चारित्र शुद्धि के लिए ५० श्वासोश्वास प्रमाण काउसग्ग करे।

गा. ५८५ 2. नमो अरिहंताणं बोलकर पारे। शुद्ध-चारित्र वाले होकर लोगस्स बोले फिर अरिहंत चेइयाणं, फिर काउसग्ग करे। (चैत्य वंदन दण्डक = अरिहंत चेइयाणं)

गा. ५८५ दर्शन शुद्धि के लिए २५ श्वासोच्छ्वास प्रमाण काउसग्ग करे। विधि से पारकर श्रुतस्तव 'पुक्खरवर' बोले।

गा. ५८६ 3. सूत्र अतिचार शुद्धि के लिए श्रुतज्ञान का काउसग्ग २५ श्वासोश्वास प्र करे। विधि पूर्वक पारे।

अव. ज्ञान-दर्शन-चारित्र यही क्रम है, आनुपूर्वी है। काउसग्ग पश्चानुपूर्वी से करने का कारण -

गा. ५८७ पहले ज्ञान, फिर दर्शन, फिर चारित्र आता है अतः यह आनुपूर्वी है। पर से तो चारित्र ही सार है अतः ज्ञान-दर्शन से उसके अंग हैं, साधन हैं। इसलि पश्चानुपूर्वी से काउसग्ग करना चाहिए।

गा. ५८८ 4. सभी अतिचारों से शुद्ध होकर सिद्ध स्तव 'सिद्धाणं' कहे। फि विधिपूर्वक व करे। (वंदन के पहले काय प्रमार्जे यानि मुहपत्ति पडिलेहन करे गा. ५८९

अव. 5. यहाँ वंदन करने का कारण -

गा. ५८९ लोक में कोई भी विनीत पुरुष पूज्य की आज्ञा पूर्णकर, फिर से वंदन कर उन्हें निवेदन करते हैं, ऐसे ही सभी साधु प्रतिक्रमण पूर्ण होने से गु को निवेदन करे। द्वार गा. ५८२ पूर्ण।

गा. ५९० फिर आचार्य एक मंगल स्तुति बोले। फिर सभी साधु स्तुतियाँ बोले। स

प्रतिक्रमण के बाद की विधि
सुबह के प्रतिक्रमण की विधि

साधु कुछ देर गुरु के पास बैठे।

अव. यहाँ गुरु के पास बैठने का कारण -

गा. ५७। आचार्य कोई सामाचारी कहना भूल गए हों तो वह कहे अथवा गुरु के विनय से पैर दबाए। प्रतिक्रमण की विधि पूर्ण हुई।

श्रुत देवता, क्षेत्र देवता, भवन देवता का काउस्सग्ग आचरणा से होता है।

गा. ५७२ चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवता का तथा पक्खि में भवनदेवता का काउस्सग्ग करते हैं। कोई चौमासी प्रति. में भी भवन देवता का काउस्सग्ग करते हैं।

गा. ५७३ रात में करने वाले कालग्रहण स्वाध्यायादि निशीथ, आवश्यकादि सूत्रों से जानना। हमें अब सुबह का प्रतिक्रमण करूँगा।

अव. सुबह के प्रतिक्रमण की विधि -

गा. ५७५ साधु सामायिक सूत्र बोलकर चारित्र विशुद्धि के लिए २५श्वासो. प्रमाण काउस्सग्ग करे।

गा. ५७६ विधिपूर्वक काउस्सग्ग पारकर शुद्ध चारित्र वाले साधु लोगस्स बोलकर दर्शनशुद्धि के लिए २५श्वा. प्रमाण काउस्सग्ग करे।

गा. ५७८ विधि से पारकर श्रुतस्तव 'पुक्खर' बोलकर अतिचार का काउस्सग्ग करे। यह काउस्सग्ग अनियत प्रमाण वाला होता है क्योंकि अतिचार अनियत होते हैं। अत्यन्त उपयोग पूर्वक यह काउस्सग्ग करे।

गा. ५७१ गुरु के पास दैवसिक प्रतिक्रमण के बाद स्तुति बोलने से लेकर इस काउस्सग्ग तक की सभी क्रिया विचारे। फिर उनमें सूक्ष्म स्थूलादि भेद से अतिचारों को धार ले।

अव. दैवसिक प्रति. में अतिचार चारित्रशुद्धि वि. काउस्सग्ग के पहले विचारे जाते हैं तथा वंदन भी काउस्सग्ग के पहले किए जाते हैं। रात्रिक प्रति. में उल्टा होने का

तप चिंतवन का काउस्सग्ग

कारण-

गा. ५९४ निद्रा के कारण साधु अतिचार नहीं सोच सकता, अतः पहले काउस्सग्ग
अंधेरे में वंदन करने में साधु परस्पर टकरायेंगे, अतः वंदन बाद में रखे जिस
कुछ उजाला हो जाए। अंधेरे में कुछ साधु वंदन न करे, ऐसा भी हो सकता है।

गा. ५९९ तीसरे काउस्सग्ग में रात्रि अतिचार विचारे। प्रतिक्रमण सूत्र के बाद 'तप' वि
६ महिने से एक-एक दिन की हानि द्वारा माया या बहाने बिना शक्ति-
अनुसार नवकारसी तक विचारे।

गा. ६०० रात्रि अतिचार सोचकर 'सिद्धाणं' सिद्ध स्तव कहे। ~~विधि~~ प्रतिक्रमण सूत्र पद
विधि पूर्वक कहे। फिर गा. ५९९ अनुसार तप का काउस्सग्ग।

अव. प्रतिक्रमण में सामायिक सूत्र (५०२-५०५) बारबार बोलने का कारण-

गा. ६०१ सभी अनुष्ठान सम भाव से करना चाहिए। अतः सामायिक सूत्र बार
बार बोलने से सम भाव आता है तथा दृढ़ होता है।

अव. 'तप चिंतवन' विधि -

गा. ६०२ गुरु को खमाकर सामायिक पूर्वक काउस्सग्ग करे। फिर सोचे- गुरु द्वारा मैं
ग्लानादि की सेवा में नियुक्त किया गया हूँ।

गा. ६०३ उस कार्य को हानि न हो वैसे ६ महिने आदि क्रम से तप में उद्यम करे। पोरस
आदि तक माया रहित विचारे।

गा. ६०४ ~~अ~~शक्य तप को धारकर गुरु को वंदन कर पच्चक्खाण ले। सभी साधु एक स
पच्चक्खाण ले।

गा. ६०८ उपयोग पूर्वक अनाभोगादि आगार सहित पच्चक्खाण ले। यह पच्चक्खा
स्वयं ही पालना है। प्राणातिपातादि के व्रत में करण, कारण, अनुमोदन जै
प्रतिज्ञा इसमें नहीं है। अतः दूसरे को आहार त्याकर देने में या आहार त्य
का उपदेश देने में दोष नहीं है। स्वयं की अनुकूलतानुसार अन्य की भ

करना चाहिए।

अव. आगार की संख्या कहते हैं-

गा.506-507 नवकारसी-2, पोरसी-6, पुरिमड्ढ-7, एकासने-8, एगलठाणे-7, आयंबिल-8, उपवास-5, चरिम-5, अभिग्गह-5/5, विगई/नीवि-8/9, पानी-6 आगार हैं।

अव. आगारों के अर्थ-

गा.508 (a) नवकारसी में 2 आगार- अणाभोग, सहसागार। नवकार सहित पारने से नाम।

आगार= पच्चक्खाण के अपवाद का कारण।

1. अनाभोग= अत्यंत विस्मरण। 2. सहसाकार= अचानक, सहसा ही भंग हो जाए तो।

(b) पोरसी- 2 आगार नव. + 4 पच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन = 6 आगार।

3. पच्छन्नकाल= रज, धूल या पर्वत से सूर्य ढंकने से सूर्यकाल पता न चले सो पूर्णकाल मानकर पार लिया। सर्वसमाधिप्रत्ययाकार

4. दिशामोह= दिशाभ्रम से तुरंत गो सूर्य को सूर्यास्त मानकर पच्च. पार ले।

5. साधुवचन= कोई साधु 6 घड़ी पोरिसी पढ़ाए। उसके वचन सुनकर पच्च. पार ले।

6. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार= किसी को पच्च. के बाद मृत्यु जैसी पीड़ा हो तो पाकर औषध ले अथवा किसी साधु को अन्य जगह समाधि दान के लिए जाना हो तो वह पच्च. पारकर वापरकर जाए किंतु वापरते हुए पता चले कि जाने की जरूर नहीं है तो उसी समय रुक जाए।

(c) पुरिमड्ढ- 2 प्रहर तक आहार त्याग। उपर्युक्त 6 + 1 महत्तरागार = 7 आगार

7. महत्तरागार- महान्-अधिक त्याग होने पर। गुर्वाज्ञा से

(d) एकासन- सकृदुपविष्टपुत्ताचात्यनेन भोजनं। नव. 2 + पुरि. अंत 2 + 5 = 8 आग

अनाभोग, सहसा., महत्तरा., सर्वसमाधि., सागारिकाकार, आकुंचनप्रसारण, गुरु अभ्युत्थान, पारिष्ठापनिका।

8. सागारिआगार= कोई गृहस्थ आए तो कुछ देर भोजन बंध करो परंतु अधिक देर हो

वहाँ से उठकर दूसरी जगह बैठकर वापरे।

9. आकुंचन प्रसारण - वापरते हाथ पैर मस्तक हिलाने की छूट।

10. गुरुअभ्युत्थान - आचार्य या प्राघूर्णक आए तो खड़े होना।

11. पारिष्ठापनिका - परठवने के आहार को वापरना।

गा. 509 (e) एगलठाण - आकुंचनप्रसारण सिवाय एकासणे के ८ आगार।

(f) आयंबिल - नव. २ + पुरि. मंत २ + ५ = ९ आगार

(लेपालेप, उत्क्षिप्त विवेक, गृहस्थसंसृष्ट, पारिष्ठापनिका)

12. लेपालेप = पहले पात्र में लेपकृत् आहार हो। उसे लूछकर अलेप आहार आक वापरे।

13. उत्क्षिप्त विवेक = आयंबिल के आहार पर विगई पड़ी हो तो उसे अलगकर वाप

14. गृहस्थ संसृष्ट = चम्मच या कोई बरतन थोड़ा खरड़ा हो उससे आयंबिल की गोचरी की किन्तु यदि आहार में ज्यादा स्वाद आए तो अकल्प्य।

(g) उपवास = अभक्तार्थ ६ आगार = नव. २ + पुरि. मंत २ + पारिष्ठापनिका।

यदि तिविहार उपवास हो तो पढ़ने का आहार कल्प्य, चौविहार हो तो नहीं।

तिविहार में पानी के ६ आगार रखे। क्योंकि यदि आहार अधिक हो तो और पा आधिक न हो तो चौविहार उपवास में पात्रे कैसे धोए?।

(h) पानी के ६ आगार - लेवेण - अलेवेण, अच्छेण, बहुलेण, ससित्थेण, असित्थेण।

(i) चरम - २ प्र. भव चरिम, दिवस चरिम। ५ आगार = नव. २ + पुरि. मंत २

गा. 510 (j) अभिग्रह में यदि साधु खुले शरीर रहने वाला हो तो चोलपट्टागार + ५ दिवस चरि कृत्य ६ आगार। बाकी दंड प्रमार्जन वि. अभिग्रह में ५ आगार।

(k) निवि या विगई में ७।८ आगार।

गा. 511 कठिन भक्खन, कठिन पक्वान्न, कठिन दही (कपड़े से छना हुआ), कठिन मांस, कठिन कठिन गुड़, ये ६ विगइ में निवि को अन्नत्थ खाण में ७ आगार = ९ आयंबिल +।

प्रतीत्य म्रक्षित

दीत्ती विगई वाली निवि में 8 आगार - उत्क्षिप्त विगइ छोड़कर।

15. पुतीत्थ क्षक्षित = अंगुली से थारी तेल, घी चोपड़े तो कल्पे, धार कर चोपड़े तो अकल्प्य।

दूध में चावल मिलाए हो तो ऊपर ५ अंगुल दूध हो तो निवियाते, अन्यथा विगई।
इसी प्रकार दही और मद्य में भी।

पक्वाहीगुड़, घी, तेल के साथ चावल हो तो ऊपर ।अंगुल हो तो निविगाता, अन्यथा विगई। शक्कर और मांसरस ½ अंगुल ऊपर हो तो निवियाते।

कठिनगुड़ और ~~भक्खन~~ के आंबले जितने छोटे टुकड़े मिश्र हो तो निवियाते अन्यथा अकल्प्य

भव. आगार क्यों होते हैं -

गा. 512 व्रत का भंग बड़ा दोष है, भगवदाज्ञाविराधनात्। थोड़े व्रत का पालन भी गुणकारी, विशुद्धकुशल परिणामरूपत्वात्। इसलिए आगार रखते हैं ताकि आगार संयोगों में समाधिटिकी रहे, असमाधि से कर्म बंध होता है।

गा. 513 गृहीतव्रत के पालन से अप्रमाद का सेवन होता है। अप्रमाद का सेवन बढ़ता-बढ़ता ही प्रमाद का नाश करता है।

गा. 514 और प्रमाद तो संसार में अभ्यस्त है इसलिए अतिशय अभ्यास से व्रतभंग कभी न हो, इसलिए आगार हैं। भंग होने पर आज्ञादयः दोषाः।

गा. 515-6 नवकारसी आदि पच्चक्खाण से युक्त प्रमादी को प्रव्रज्या कैसे? अथवा दीक्षा भी

गा. 517-522 सागार होना चाहिए? चर्चा।

गा. 523-525 आगार समाधान के बाधक है।

गा. 526-7 साम्प्रायिक में क्त्न अपवाद क्यों नहीं?

गा. 528-30 दिगं. - निविहार पच्चक्खाण क्यों?

भव. पच्चक्खाण उपयोग पूर्वक होना चाहिए -

गा. 531 'आज अमुक पच्चक्खाण है' ऐसा ख्याल। सूत्र उच्चार स्पष्ट करना। नवकार गिनके कर

वेयावच्च की विधि और लाभ

के प्रोजन करना। गुरु की अनुज्ञा लेना। 6 कारण से भोजन करना।

गा. 532 'यह पच्चक्खाण प्रभु ने बताया है' इस प्रकार रागरहित, विवेक युक्त साधु को केवलज्ञान का हेतु बनता है, शुद्ध संवर होने से।

गा. 533-38 पूर्व-अभक्तार्थी को दूसरे के लिए आहार लाना भी नहीं चाहिए या उपदेश भी नहीं दे चाहिए, अन्यथा व्रत भंग।

उत्तर पक्ष - उसने करावण और अनुमोदन का नियम नहीं लिया है अतः उसे यथाशक्ति लाभ लेना चाहिए, शक्ति न हो तो घर बताना चाहिए। समाधि अनुसार करना चाहिए

गा. 539 जिन वचन से भावित प्राणियों में भेद नहीं हैं इसलिए वे स्व-पर सभी को पीड़ा का वर्जन करते हैं।

अव. वेय वेयावच्च की विधि -

गा. 540 पुरुष और पुरुष पर होने वाले उपकार-अपकार को जानकर औचित्य आशंसा से शास्त्रोक्त अनुष्ठान रूप, जिनाज्ञा प्रमाणे वेयावच्च करे। पुरुष यानि आचार्य, उपाध्याय तपस्वी, शैक्षक, ग्लान, बाल, वृद्ध आदि। उपकार - जैसे कोई वृद्ध अशक्त हो तो उन गोचरी ले आना। अपकार - कोई वृद्ध शक्त हैं किन्तु उनकी भी गोचरी लाए, उनका चलना - फिरना बंद हो जाए तो शक्ति क्षीण हो जाए। इत्यादि

अव. वेयावच्च के लाभ -

गा. 541 भरत चक्रवर्ती भी पूर्वजन्म की सेवा के फल स्वरूप चक्रवर्ती बने।

गा. 542 वहीं भरत राज्य कर मोक्ष में भी गए।

गा. 543 वेयावच्च का अनंतर फल भोग हैं, परंपर मोक्ष है।

गा. 544-5 मोक्षमार्ग - 2 प्र. 1 पहला छाया वाला, पुष्प-फल वाला। दूसरा छायादि से रहित। ऐसे मोक्षमार्ग भी 2 प्र. 1 पहला वेयावच्च, अनुकंपादि से युक्त छद्मस्थ, तीर्थंकरादि महान् आत्माओं का। दूसरा सदैव स्वयं की साधना करने वाले सामान्य साधु

अव. उपसंहार -

गा. ५५६ इसलिए पच्चक्खाण होने पर भी अन्नदानादि में दोष नहीं है। वैयावच्च से लाभ होने और स्वयं को कोई अधिकरण अक्ष न होने से लाभ ही है।

अव. निम्न विधि से पच्चक्खाण शुद्ध होता है -

गा. ५५७ (द्वार) फासिय, पालिय, शोभित, तीरित, कीर्तित, आराधित पच्चक्खाण शुद्ध होता है, अत ऐसे पच्च. में यत्न करना चाहिए।

गा. ५५८-५० 1. स्पृष्ट = पच्च. लेते हुए मन में उच्चार करना आदि विधि पूर्वक पच्च. लेना। (आत्मा से पच्च. का स्पर्श करना)

2. पालित = पच्च. का बार-बार स्मरण करना।

3. शोभित = गुरु की बची हुई गोचरी वापरने से पच्च. शोभता है।

4. तीरित = पच्च. आने पर भी थोड़ी देर बाद पारना।

5. कीर्तित = भोजन करते समय 'पच्च. पूर्ण हो गया' का उपयोग देना।

6. आराधित = स्पृष्टादि ५ शुद्धि से पूर्ण पच्च.। (५ शुद्धि से पच्च. की आराधना होती है।)

गा. ५५१ यह पच्च. विशुद्ध भाव वाले जीव को चारित्र की आराधना से मोक्षफल देता है, ऐसा तीर्थंकर प्र. जिन कहते हैं।

अव. प्रासंगिक कहकर प्रतिक्रमण विधि को आगे कहते हैं -

गा. ५५२ प्रतिक्रमण के अंत में देवसिक प्रति. जैसे ही स्तुति बोले। फिर उस्सग्गादि गुण से युक्त सूत्रों से देववंदन करे। फिर बहुवेल के आदेश मांगे। फिर रजोहरण का विधि से पडिलेहन करे।

अव. बहुवेल के आदेश मांगने का कारण -

गा. ५५३ साधुओं को गुरु द्वारा अनुज्ञा होने पर ही सभी कार्य करना कल्पते हैं, अन्यथा चल्प नहीं। इसलिए कृत्य (स्वाध्यायादि) और सूक्ष्म योग (श्वासादि) की अनुज्ञा के लिए बहुवेल के आदेश मांगे।

गा. ५५५ गुरु से आदेश मांगकर पूर्वोक्त विधि से पडिलेहन करे। फिर स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे। अन्य कार्यों के बीच में भी समय बचे तो स्वाध्याय करे।

स्वाध्याय के 7 लाभ

गा. 230 का 4 आवश्यक द्वार पूर्ण। द्वार गाथा भी पूर्ण।

अब. प्रसंग होने से स्वाध्याय के लाभ कहते हैं –

गा. 555 (द्वार) 1. आत्महितज्ञान 2. भावसंवर 3. नवनव संवेग 4. मार्ग में निष्कम्पता 5. श्रेष्ठ तप 6. कर्म की निर्जरा 7. मार्ग का परोपदेश – ये 7 लाभ स्वाध्याय से होते हैं।

गा. 556 1. परमार्थ से आत्महित को नहीं जानता जीव कृत्य में (क्या करे क्या न करे) मूढ़ हो हुआ मुंझाता है और कर्म बांधकर अनंत संसार समुद्र में भटकता है।

गा. 557 परमार्थ से आत्म हित को जानता जीव अहित निवृत्ति और हित प्रवृत्ति में यत्न वाला होता है। इसलिए सूत्र से आत्म हित होता है।

गा. 558 2. वाचनादि स्वाध्याय को सेवता साधु पाँच इंद्रियों से संवृत्त और तीन गुप्ति से गुप्त बनता है। एकाग्रमन वाला होता है और विनय समाधि वाला बनता है।

गा. 559 ज्ञान से ही जिनेश्वर द्वारा कहे गए हित और अहित रूप सभी भाव जाने जाते हैं अतः ज्ञपरिज्ञा से सम्यक् प्रकार से जानता हुआ और प्रत्याख्यान परिज्ञा से भावतः संवर वाला होता है।

गा. 560 3. साधु जैसे-जैसे सूत्रोक्त अतिशय (विशेष अर्थ) के रस के प्रसर (फैलाव) से युक्त नए यानि नए श्रुत को ग्रहण करता है, वैसे-वैसे वह शुभ भाव की शीतलता से युक्त पाप्तता है और नए नए संवेग (वैराग्य) से श्रद्धा वाला होता है।

गा. 561 4. ज्ञान की शक्ति से दर्शन प्रधान तप और नियम (व्रत) रूप संयम में रहकर साधु यावज्जीव निष्कंप, स्थिर रहकर कर्ममल की अपेक्षा से विशुद्ध होता हुआ [illegible]

गा. 562 5. कुशल पुरुषों (निपुण) द्वारा (जिन) देखे गए आभ्यन्तर-बाह्य रूप 12 तप में स्वाध्याय समान कोई तप है नहीं, होगा नहीं और हुआ भी नहीं।

गा. 563 6. इसलिए ही स्वाध्याय से उत्कृष्ट निर्जरा अवश्य होती है क्योंकि स्वाध्याय से विशुद्ध ज्ञान होता है और ज्ञान से त्रिकरण (मन-वाक्-काय) की शुद्धि होती है

गा. 564 इसलिए अज्ञानी असंवेग से बहुत करोड़ वर्षों में जितनी कर्म निर्जरा करता है,

इतनी तीन गुप्ति से गुप्त ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में करता है।

गा. 565 7. स्वाध्याय से परदेशकत्व होने पर स्वयं और पर दोनों का संसार से समुत्तार होता है। इस प्रकार से "जिनाज्ञा का वात्सल्य, जिनाज्ञा का दीपन (शोभना) और भक्ति होती है तथा तीर्थ की अव्यवछित्ति होती है।

गा. 566 वात्सल्यादि गुणों के समूह से उत्कृष्ट से तीर्थंकरत्व या सामान्य से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। जन्म-जन्म के अभ्यास से यह फल प्राप्त होता है। इसलिए स्वाध्याय मोक्ष का प्रधान कारण है। द्वार गाथा 55 पूर्ण।

गा. 567 यह स्वाध्याय सदा विधि से अप्रमत्त होकर करना चाहिए। अविधि पूर्वक करने से शास्त्र में उन्मादादि दोष कहे गए हैं।

अब. अविधि से स्वाध्याय करने के उन्मादादि दोष-

गा. 568 1. उन्माद- चित्त विभ्रम होता है, पागल हो जाता है। 2. रोगातंक- दीर्घकालीन क्षय ज्वर आदि रोग प्राप्त होते हैं। 3. केवली प्रज्ञप्त चारित्रादि धर्म से भ्रष्ट होता है (विपरीत ज्ञान के कारण)

गा. 569 सूत्रादि के विषय में ये दोष क्रमशः जानना अर्थात् लघु अविधि में लघु धर्म भ्रंश, गुरु में गुरु धर्म भ्रंश, उत्कृष्ट अविधि में उत्कृष्ट धर्म भ्रंश।

अब. स्वाध्याय में सूत्र दान के विचार को कहते हैं-

गा. 570 (द्वार) 1. योग्य शिष्यों को 2. काल प्राप्त होने पर, उत्क्रम से नहीं, सूत्र देना चाहिए। सूत्रदान 3. उपधान तप आदि से विशुद्ध विधि पूर्वक होना चाहिए। 4. गुरु भी शुद्ध अखंडित शील वाले होना चाहिए।

गा. 571-2 1. योग्य शिष्य- जो जीव प्रव्रज्या के योग्य हैं, वे ही यहाँ योग्य शिष्य जानना।
9. यदि वही योग्यता हो तो सूत्रदान में 'योग्य' पद ग्रहण क्यों किया क्योंकि वह योग्यता तो कही जा चुकी है?
3. यहाँ 'योग्य' पद ग्रहण योग्यता का प्राधान्य दिखाने के लिए किया अथवा ओघ

सूत्र दान के योग्य शिष्य
सूत्र दान का कालक्रम

PAGE NO
DATE

जो विशिष्ट गुणाधिक हो, उसे बताने के लिए किया। अथवा कभी दीक्षा के समय पता से गुरु अयोग्य को दीक्षा दे और फिर खबर पड़े तो उसे सूत्र दान न करे, ऐसे सूचन के लिए योग्य पदग्रहण किया।

गा. 573 इस प्रकार कल्प से दीक्षित साधु को मुण्डन करने का निषेध ~~किया~~ भाष्यकार ने शास्त्र में कहा है।

गा. 574 जो चारित्र में स्थित तपस्वी जिन वचन से प्रतिकुष्ट अयोग्य प्राणी को दीक्षा दे है, वह स्वयं को भी चारित्र का लोप करता है।

गा. 575-9 अयोग्य प्राणी को दीक्षा देने में दोष है। यदि खबर पड़ जाए तो मुंडन नहीं करे (मुंडापना)। यदि मुंडन के बाद पता चले तो शिक्षापना न करे। शिक्षापना के बाद पता चले तो उपस्थापना (बड़ी दी न दे। उपस्थापना के बाद पता चले तो संभोजन (भोजन साथ में न करे। संभोजन के बाद पता चले तो संवासन (साथ में रहना) न करे। यदि पता चलने के बाद भी करे तो सभी में आज्ञा भंगादि दोष।

गा. 580 इस प्रकार जिनेश्वरों द्वारा अयोग्य शिष्य को दीक्षादि सभी का निषेध है। जैसे वैद्य असा रोग है, ऐसा जानने पर इलाज छोड़ देता है, वैसे।

गा. 581 2 कालक्रम - गुरु वर्षादि के कालक्रम से जो योग्यता प्राप्त हो, वही सूत्र पढ़ाए, विपरीत न करे।

काल कहते हैं -

गा. 582-8 3 साल - आचारांग, 4 साल - सूत्रकृतांग, 5 साल - दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र, व्यवहार सूत्र, 3 स्थानांग, समवायांग, 10 साल - व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती), 11 साल - क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ती, महल्लिया विमानप्रविभक्ती, अंग चूलिका, वग्ग चूलिया, विवाह चूलिया, 12 साल - अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाए, वेलंधरोववाए, वेसमणोववाए, 13 साल - उट्ठाणसुय, समुट्ठाणसुयं, देविंदोववाए णागपरियावणियाओ, 14 साल - आशीविष भावना, 15 साल - दृष्टिविष भावना, 16 साल - चारण भावना, 17 साल - महास्वप्न भावना, 18 साल - तेजो निसर्ग, 19 साल - दृष्टिवाद 20 साल - विंदुसारादि सभी सूत्र।

सूत्रों के उपधान क्यों?
आज्ञाभंगादि ५ दोष

PAGE NO. 51
DATE

गा. 589 3. उपधान द्वार- जिस अध्ययन के आयंबिलादि जो आगम में कहे गए हैं, उन तप द्वारा ही सूत्र दें, अन्यथा नहीं। अन्यथा देने में आज्ञादि ५ दोष।

गा. 590 (i) केवलि द्वारा जो उपधानादि केवलज्ञान से परमार्थ से जानकर कहे गए। उन्हें अन्यथा करने से केवली की आज्ञा का भंग रूप महापाप होता है, जिन पर अश्रद्धा होने से।

गा. 591 (ii) अनवस्था दोष- एक द्वारा किए अकार्य को अन्य कोई संसाराभिनंदी करता है, उसे देख दूसरा करता है। इस प्रकार सुखशील जीवों की परंपरा से शुद्ध संयम तप का व्यवच्छेद होता है।

गा. 592 (iii) मिथ्यात्व दोष- लोक को मिथ्यात्व होता है। यह जिनवचन नहीं है, इसलिए यह साधु ही ऐसा नहीं करता है, इस प्रकार वितथ सेवन से शंका होने से लोक को मिथ्यात्व होता है।

गा. 593 (iv) विराधना दोष- इस प्रकार अनेक भवों तक होने वाली, भयंकर, स्व-परोपघाती और जिनों द्वारा प्रतिकुष्ट ऐसी संयम और आत्मा की विराधना अकुशलानुबंध से अवश्य होती है।

गा. 594 जैसे विधिरहित मंत्र-विद्यादि सिद्ध नहीं होते और इहलोक में ही अपकार करने वाले होते हैं, वैसे ही सूत्र भी अविधि से ग्रहण किए गए सूत्र भी।

गा. 595 जैसे वे ही मंत्रादि विधि युक्त इहलोक में ही सफल होते हैं, वैसे ही विधियुक्त सूत्र परलोक में अवश्य सफल होते हैं।

अब इसका कारण कहते हैं-

गा. 596 सूत्र को विधि पूर्वक देने में सम्यक् प्रवृत्ति होने से निश्चय से जिनाज्ञा की आराधना होती है और विधि के दर्शन से अन्य प्राणियों को मार्ग में स्थिरता होती है।

गा. 597 यथोक्तकरण में स्वयं को और द्रष्टा को सुप्रशस्त सम्यक्त्व होता है और संयम तप आत्मा की आराधना मोक्षफलवाली होती है।

गा. 598 वह उपधान भिन्न-भिन्न प्रकार का जिस-जिस अंगादि सूत्रों में कहा है, उस-उस ग्रंथ से विशेष रूप से जानना।

सूत्रदान के योग्य गुरु

गा. 599 ५. शुद्ध गुरु – चरणयोग में स्थित गुरु द्वारा यह सूत्र देने योग्य है, उपयोग पूर्वक। क्यों?
क्योंकि भावाद् भावप्रसूतिः शुभाच्छुभस्य, प्रायः लोकेऽपि सिद्धमिदं भावितात्
वक्तुर्भावप्रतिपत्तिः।

गा. 600 बाह्य चारित्र से आन्तर चारित्र का विशुद्ध भाव जानना क्योंकि आंतर विशुद्ध चारित्र कि
बाह्य चारित्र शुद्ध शक्य नहीं है। 9. दंभ से भी बाह्य-चारित्र हो सकता है। 2. बाह्य-चा
शुद्ध होने पर भी गुरु स्वीकारने में छद्मस्थ शिष्य को कोई दोष नहीं है क्योंकि वह गु
आंतर परिणाम नहीं जान सकता।

गा. 601 यहाँ शिष्य को परिणाम विशुद्धि से लाभ ही होता है। सर्वत्र शुभ आलंबन से हुआ परिण
ही उत्तम है।

गा. 602 सभी आगम के तत्त्वों को जानने वाले ऋषियों का परम रहस्य यह है कि निश्चय न
से धर्म मार्ग में आत्मा का परिणाम ही प्रमाण है, शेष क्रियादि तो व्यभिचारी हैं।

गा. 603 दुष्प्रधर्षगणि अंगार मर्दक के शिष्य भी छद्मस्थ की दृष्टि से शुद्ध परिणाम से भावश्रुत
को प्राप्त हुए। इसलिए परलोक के मार्ग में परिणाम ही प्रधान है।

गा. 604-5 यह परिणाम रागादि से बाधित न होता हुआ यदि बाह्य चारित्र से शुद्ध किन्तु भाव
से अशुद्ध गुरु में हो तो भी शुद्ध। यही मार्गानुसारित्व और आगमपारतन्त्र्य है।

गा. 606-7 यदि यह परिणाम मोह से हुआ है तो वह अशुद्ध है। क्योंकि मोह से तो बाह्य चारित्र
रहित भी उसे गुरु रूप त्यागेंगे। इसका मोह वाले जीव को अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि होती है।

गा. 608 देव-गुरु के विषय में बुद्ध पुरुषों को आंतरिक परिणाम छोड़कर बाह्य लिंग और वेश, जी
निपुण दृष्टि से देखकर ऐसा परिणाम करना चाहिए। देखें गा. 570 पूर्ण

उप.
उपसंहार –

गा. 609 श्रमणों की यह चक्रवाल सामाचारी प्रतिदिन क्रिया ~~संक्षेप~~ से संक्षेप रुचि वाले जीवों के
अनुग्रह के लिए संक्षेप से वर्णन की गई। शास्त्र ग्रंथों में स्थापना (बड़ी दीक्षा) विधि
अनुसार कहूँगा।

(C) व्रतस्थापना वस्तु

उपस्थापना की योग्यता, काल मर्यादा

PAGE NO. 83

DATE

गा. 610 धन्य, पुण्यशाली शैक्षक प्रतिदिन क्रिया के सम्यग् आसेवन से व्रतस्थापना के योग्य बनते हैं। अतः व्रतस्थापना का वर्णन करते हैं।

(5) प्रतिदिन क्रिया द्वार, दूसरी वस्तु पूर्ण।

अव. (C) व्रतस्थापना -

गा. 611 (द्वार) 1. संसार के क्षय के हेतु रूप व्रत 2. किसे देना? 3. कैसे देना? 4. कैसे पालना? यह संक्षेप से कहूँगा।

गा. 612 1. संसार में अविरति का मूल कर्म है। इसलिए कर्म से ही संसार है। इसलिए कर्म क्षय करने के लिए विरति करना चाहिए। व्रत ही विरति है। इस प्रकार व्रत क्षय के हेतु हैं।

गा. 613 2. जिन्होंने शस्त्र परिज्ञा (आचारांग का पहला अध्ययन), दशवैकालिक आदि का अर्थ सहित अध्ययन किया है, जो त्याग, श्रद्धा-संवेगादि गुणों से युक्त है, जो धर्म प्रेमी हैं और जो पाप भीरु हैं, वे व्रतस्थापना के योग्य हैं।

गा. 614 सूत्र पढ़ने पर, अर्थ को कहे जाने पर, सूत्रार्थ का सम्यग् अवधारण करने पर जो प्रतिषिद्ध का त्याग करे, वह उपस्थापना के योग्य है। उपस्थापना के बाद वह पृथ्वी आदि 6 काय का 'मन-वचन-काया x करण-कारण-अनुमोदन रूप 9 भेद से विशुद्ध रूप से त्याग करे अर्थात् हिंसा छोड़े।

अव. विपर्यय करने में दोष -

गा. 615 उचित दीक्षा पर्याय प्राप्त न होने पर, कायादि को कहे या समझाए बिना, तत्त्विक ज्ञ बिना, सूत्रोक्त विधि से परीक्षा करे बिना जो उपस्थापना करता है, उसे आज्ञाभंगा दोष। जिनेश्वर द्वारा कहे गए हैं। इसलिए गुण युक्त को ही व्रतों में स्थापे।

अव. उपस्थापना की काल मर्यादा -

गा. 616 शैक्षक की तीन भूमि (काल मर्यादा) होती है। (i) जघन्य = 7 रात-दिन (ii) मध्यम = 6 महि

(iii) उत्कृष्ट = 6 महीने।

गा. 617-8 पुराण = जिसने पहले दीक्षा लेकर छोड़ दी हो, उसने वापस दीक्षा ली हो तो। अन्य क्षेत्र में दीक्षि

उपस्थापना में पिता-पुत्रादि के क्रम की व्यवस्था

PAGE NO
DATE

पुराण साधु का जघन्य भूमि जल्दी न पढ़ सके वैसे कम बुद्धि वाले को उत्कृष्ट भूमि क्योंकि वह सूत्र ग्रहण नहीं करता और सम्यग् ज्ञान के अभाव से जिसे श्रद्धा भी न हो। इस साधु से थोड़ी विशिष्ट योग्यता वाले को धीरे-धीरे पढ़ने से मध्यमा। उपरोक्त ऐसे भावित मेधावी को इंद्रिय जय के लिए मध्यमा भूमि किन्तु कुछ छोटी मर्यादा वाली।

गा. 619 इस प्रकार भूमि को अप्राप्त शैक्षक को जो पहले ही स्थापन करता है, वह गुरु आज्ञाभंगादि दोषों को प्राप्त करता है।

गा. 620 जो गुरु भूमि को प्राप्त शैक्षक को भी राग, द्वेष या प्रमाद से स्थापन नहीं करता, वह भी आज्ञादि को ही प्राप्त करता है।

प्रसं. पिता-पुत्र आदि का प्राप्त-अप्राप्त के अधिकार में क्रम -

गा. 621 प्राप्त-अप्राप्त के अधिकार में पिता-पुत्रादि का जो क्रम पूर्वाचार्यादि ने कहा है, वह संक्षेप रुचि वाले जीव के अनुग्रह के लिए संक्षेप से कहूँगा।

गा. 622-3 वृद्ध संप्रदाय- दो पिता-पुत्र दीक्षित हुए। यदि दोनों योग्यता को प्राप्त हो तो दोनों को स्थापे यदि पिता योग्य हो, पुत्र न हो तो पिता को स्थापे। यदि पुत्र योग्य हो तो मुहूर्त तक पिता को प्रयत्न पूर्वक शिक्षा दे। यदि मुहूर्त तक भी पिता ~~तैयार~~ योग्य न हो तो पिता की अनुमति लेकर पुत्र को स्थापे। यदि पिता न माने तो उबार 5-5 दिन तक उन्हें समझाए। इस प्रकार 5 दि बाद भी न माने तो पुत्र को अनुमति बिना भी स्थापे। किन्तु यदि पिता अभिमानी स्वभाव वाले हो और गुरु या पुत्र पर द्वेष करे तो पिता योग्य न हो तब तक पुत्र को भी रो

गा. 624-5 पूर्वपक्ष- जो उपज्ञापनीय गुरु वचन भी नहीं मानता, उसे सामयिक कैसे होती है? सामयि ही नहीं है उपस्थापना कैसे होगी?

गा. 626-7 उत्तर- निश्चय नय से उसमें सामायिक नहीं है। व्यवहार नय से अशुभ कर्म विपाक से अशु सामायिक है। सामायिक में भी संज्वलन कषाय होता है। संज्वलनोदय: अतिचार व वर्तते। अतिचार होने से अशुद्ध सामायिक होती है।

गा. 628 अथवा सामायिक प्रतिपाती होता है। बाह्य लिंग होने पर भी कई बार जीव में सामायिक

नहीं होती है। क्योंकि-

भा. 629 सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देश विरति सामायिक 2-9 हजार बार और सर्व-विरति 2-9 सौ बार एक जन्म में आते जाते हैं। इतनी सामायिक होने के बाद सामायिक अप्रतिपाती होती है अथवा प्राप्त नहीं होती।

भा. 630 अतः निरतिशय गुरु द्वारा उसका त्याग योग्य नहीं हैं क्योंकि उस जीव में सामायिक प्रति राग है, इसलिए सामयिक न होने पर वह अप्रज्ञापनीय होने के बावजूद उसमें सामयिक भाव आ सकता है।

भा. 631 अतिसंक्लेश के वर्जन के लिए उसका त्याग नहीं करना चाहिए

भा. 632-4 अथवा विकल्प से अन्य व्यवस्था। माता-पुत्री, रानी-प्रेंरीपत्नी, राजा-सेठ, राजा-सार्थवाह आदि में भी ऐसी व्यवस्था जानना।

भा. 635-6 राजा का उदाहरण। जब दो राजा, दो मंत्री आदि समान दीक्षा ले तो दोनों को गुरु समान बनाए, छोटा-बड़ा न बनाए। जो गुरु के पास खड़ा होता है, वह बड़ा होता है। अतः समान व्यक्ति में दोनों को एक-एक तरफ खड़ा कर समान रखे।

इति. इस प्रकार उपस्थापना भूमि को अप्राप्त की विधि कही। अब अकथन की विधि कहते हैं- (6काय और व्रत समझाने की विधि-)

भा. 637 छकाय और व्रत समझाए बिना भी उपस्थापना नहीं करना। छकाय और व्रत शिष्य के हिसाब से हेतु और दृष्टांत से समझाना। शैक्षक यदि कहने पर भी न समझे या समझने पर भी परीक्षा किए बिना नहीं करना।

अब. 6काय जीव की विचारणा-

भा. 638 एकेन्द्रियादि जीव है। उन्हें सिर्फ स्पर्शेंद्रिय होती है। जैसे मूक बधिरादि इंद्रियों के अभाव में भी जीव है, वैसे ही ये भी जीव है। कर्म के विपाक से।

भा. 639 कर्मवश से बधिर की श्रोत्रेन्द्रिय ढँक गई है, वैसे ही तो क्या वह शेष इंद्रिय होने पर भी क्या अजीव है? जीव ही है।

एकेन्द्रिय में जीव सिद्धि

गा. 640 नवाचिर और अंध की कर्ण और चक्षुरिन्द्रिय नष्ट होने पर भी वे जीव हैं, तो एक स्पर्श होने पर जीवत्व अयुक्त क्यों है? अयुक्त नहीं ही है।

गा. 641 इस उदाहरण से चउरिंद्रिय से एकेन्द्रिय तक सभी जीव हैं।

गा. 642 चउ से द्वीन्द्रिय तक तो सभी वादी जीव मानते हैं किन्तु मोह के कारण एकेंद्रियों में बंधइत सारे वादी विप्रतिपन्न हैं याने विपरीत स्वीकारे हुए हैं।

गा. 643 एकेंद्रियों का जीवत्व सामान्य से ऊपर सिद्ध किया फिर भी संक्षेप में विशेष कहता हूँ।

गा. 644 9. बचिरादि में तो निर्वृत्ति और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय हैं, एकेंद्रिय में तो द्रव्येन्द्रिय भी न है? उ. कर्म के कारण उनमें द्रव्येंद्रिय भी नहीं है जैसे चारिंद्रिय में श्रोत्र द्रव्येंद्रिय भी नहीं
चउ. जीव हैं, वैसे ही वे भी जीव हैं।

गा. 645 (पृथ्वी) मनुष्य का मांस, मसा आदि छेदने पर भी वापस उग जाते हैं, वैसे ही पृथ्वी, विद्रुम, लवण, पत्थर आदि भी छेदने से इनके समान प्रकार वाले संकुर वापस उग जाते हैं, अतः वे भी पृथ्वी संबंधी सचित्त हैं। प्रयोग तो स्वयं को कर लेना चाहिए।

गा. 646 (जल) भूमि खोदने से मेंढक निकलते हैं, वैसे स्वाभाविक रीत्या पानी भी निकलता है। अथ जैसे आकाश में उत्पन्न मछली गिरती है, वैसे पानी भी गिरता है। अतः मेंढक या मछ जैसे पानी भी सचित्त है।

गा. 647 (तेउ) आहार के हेतु से अग्नि जीव है अथवा उसमें वृद्धि और विकार भी होते हैं (जैसे पुरुष आहार करता है और बढ़ता है वैसे) अतः अग्नि जीव है।

(वायु) दूसरे की प्रेरणा बिना अनियमित तिर्च्छागमन होने से वायु भी जीव है, जैसे अश्व

गा. 648 जन्म, जरा, मरण, आरोहण (ऊपर की तरफ वृद्धि), आहार, दोहद, रोग और रोगचिकित्सा आदि इन कारणों से वृक्ष सचित्त है, नारीवत्।

गा. 645-648 के अनुमान प्रयोग। हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास होने की आपत्ति और समाधान

गा. 649 द्वीन्द्रियादि तो कृमि-पिपीलिका-भ्रमर आदि प्रसिद्ध ही हैं।
अब वक्तव्य कहूँगा।

अव. व्रतों के नाम एवं स्वरूप -

गा. 650 वीतरागों द्वारा प्राणातिपात से लेकर रात्रिभोजन विरमण तक व्रत श्रमणों के मूलगुण कहे गए।

गा. 651 इस लोक में अथवा प्रवचन में सूक्ष्म-बादर आदि सभी जीवों के प्राणातिपात से सर्व प्रकार से (कृत कारित अनुमोदन), सुप्रणिधान पूर्वक दृढ़ समाधान से विरमण यानि निवृत्त होना प्रथम मूलगुण कहा गया है। शेष व्रतों का आधार होने से और सूत्रों के प्रामाण्य से यह प्रथम है।

गा. 652 क्रोध-लोभादि सर्व प्रकारों से सर्वथा सुप्रणिधान पूर्वक मृषा से विरमण द्वितीय मूलगु ग्रामादि में अल्पबहु आदि सर्व प्रकारों से सुप्रणिधान पूर्वक अदत्त के आदान से विरमण तृतीय मूलगुण है।

गा. 653 देव-मनुष्य आदि सर्व प्रकार से सुप्रणिधान पूर्वक मैथुन का त्याग चतुर्थ मूलगु ग्रामादि में अल्पबहु आदि सर्व प्रकारों से परिग्रह का त्याग पंचम मूलगुण।

गा. 654 अशनादि चारों प्रकार के आहार का रात्रि में सर्वथा त्याग षष्ठ मूलगुण।

अव. व्रतों के अतिचार -

गा. 655 उक्त स्वरूप वाले प्रथम व्रत में एकेंद्रिय-विकलेंद्रिय-पंचेंद्रिय जीवों का संघट्टन (स्पर्श परितापन (शारीरिक पीड़ा करना), उद्रापण (प्राणपीड़ाकरणम्) आदि अतिचार हैं।

गा. 656 द्वितीय व्रत में सूक्ष्म और बादर अतिचार हैं। सूक्ष्म प्रचलादि निद्रा से होता है, जैसे कोई साधु दिन में सोता है, और अन्य के पूछने पर कहे कि जागता हूँ इत्यादि। क्रोधा से वोलना बादर अतिचार है क्योंकि दोनों में परिणाम का भेद है।

गा. 657-8 तृतीय व्रत में सूक्ष्म और बादर - 2 प्र. के अतिचार। अनाभोग से तृण-दारु-पत्थर आदि ग्रहण करने वाले को सूक्ष्म। साधर्मिक (साधु-साध्वी), अन्यधर्मी या गृहस्थ की क्रोधादि सचित्त-अचित्तादि वस्तु क्रोधादि से ग्रहण करने को बादर अतिचार।

गा. 659 हस्त कर्मादि द्वारा मैथुन विरति व्रत के अतिचार होते हैं अथवा परिणाम की विचित्रता

शैक्षक की परीक्षा
उपस्थापना विधि

PAGE NO
DATE

से अथवा नौं गुप्ति का सम्यक् पालन न करने से भी अतिचार होते हैं।

गा.660-1 पंचम व्रत में सूक्ष्म अतिचार शय्यातरादि द्वारा सुखाए हुए तिलादि का कौआ, कुत्ता गाय आदि से रक्षण करना और वास्तव में ममत्व रखना है। लोभ से द्रव्यादि का ग्रहण करना, अथवा ज्ञानादि के लाभ बिना भी अतिरिक्त उपधि रखना बादर अतिचार है।

गा. 662 षष्ठ व्रत में दिन गृहीत-दिन भुक्त, दिन गृहीत-रात्रि भुक्त, रात्रि गृहीत-रात्रि भुक्त, रात्रि गृहीत दिन भुक्त, ५ भांगों में अतिचार। प्रथम भांगे में यदि दिन में गृहीत, रात को संनिधि रखकर दूसरे दिन वापरा तो दोष।

अब शैक्षक की परीक्षा विधि -

गा. 663 इस प्रकार जीव और व्रत का स्वरूप शैक्षक ने जान लिया हो तो गीतार्थ साधु निम्नोक्त स्थानों में परीक्षा करे।

गा. 664-5 परीक्षा के गीतार्थ स्वयं अचित्त पृथ्वी पर स्थंडिल करे, इस प्रकार अप्, तेउ वाउ वनस्पति और त्रस जीव संबंधी परीक्षा के लिए क्रमशः नदी के पास अग्नि वाले स्थान में, मत्थोत्सर्ग या कायोत्सर्ग करे। पंखे से हवा करे। हरी वनस्पति पर ठल्ले करे। कीड़ी आदि से संसक्त भूमि में ठल्ले करे। फिर गोचरी साथ में ले जाकर सचित्त से स्पृष्ट हाथ से लौरना आदि यथासंभव परीक्षा करे।

गा. 666 यदि वह स्वयं विराधना छोड़े या अन्य को प्रेरणा करे कि ऐसा करना योग्य नहीं है तो उसे उपस्थापना के योग्य जानना। अन्यथा विकल्प है। विकल्प में यदि भविष्य में योग्यता दिखे तो उपस्थापन करे, नहीं तो नहीं करे।

अब 3. उपस्थापना की विधि -

गा. 667 (द्वार) शिष्य को योग्य जानकर गुरु उसे बाएँ हाथ पर खड़ा रखकर काउसग्ग करे। एक-एक व्रत तीन बार उच्चराए। फिर वह नवकार के साथ प्रदक्षिणा दे। फिर निवेदन करे - आपके द्वारा महाव्रत आरोपित किए गए इच्छामो अणुसट्ठिं आपकी हित-

को मैं इच्छता हूँ। गुरु को 'गुरुगुणेहिं वुड्ढिज्जाहि' 'गुरुगुणैर्वर्धस्व'। फिर गुरु साधु को दो प्रकार और साध्वी को उभ. की दिशा दिखाते हैं।

गा. 668 सचित्तपानी से गीली भूमि आदि परीक्षा द्वारा 'शिष्य ने व्रतों का स्वरूप जान लिया है' ऐसा जानकर गुरु शिष्य को व्रत दे। पूर्वोक्त विधि से चैत्यवंदनादि कर उपस्थापन में भी दीक्षा जैसे कायोत्सर्ग करे।

गा. 669 गुरु डाबे हाथ पर शैक्षक को खड़ा कर प्रत्येक व्रत उपयोग पूर्वक उच्चारण उच्चारण करे।

गा. 670 शिष्य की मुद्रा - कोहनी से चोलपट्टा पकड़े। बारं हाथ की अनामिका उंगली से मुहपत्ति पकड़े। हाथीदांत जैसे उन्नत दो हाथों से रजोहरण पकड़े।

गा. 671 फिर गुरुवंदन पूर्वक कायोत्सर्ग कर बाद की विधि जैसी दीक्षा में होती है, वैसी ही। नवकार पूर्वक ~~प्रक्षिणा~~ प्रदक्षिणा कर शिष्य अवसर पर गुरु को निवेदन करता है, फिर गुरु 'गुरुगुणैर्वर्धस्व' कहते हैं। यहाँ अन्य परीक्षा निम्न प्रकार से होती है -

गा. 672 कुप्य क्षुकेहुश्र और विरति के परिणाम से सुविशुद्ध भावना से युक्त शैक्षक ब, प्रदक्षिण में यदि आगे से चलते हैं तो उनको और गच्छ को ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यदि पीछे से चलते हैं तो हानि होती है।

गा. 673 साधुओं की दिग् २ प्र. - आचार्य और उपाध्याय। साध्वी की उभ. - प्रा. उपा., प्रवर्तिनी। उसके बाद यथाशक्ति आयंबिल, निवि आदि तप करते हैं। द्वारगा. ६८ पूर्ण

गा. 674 फिर शक्ति अनुरूप उपधान तप किए जाते हैं। मंडली प्रवेश में ७ आयंबिल अवश्य होते हैं।

गा. 675 शिष्य को उपदेश देना। शास्त्रोक्त विधि से शिष्य के विविध भावों को जानकर यदि परिणत लगे तो मंडली में प्रवेश कराए, अन्यथा अपरिणत को प्रवेश कराने पर आज्ञादि दोष।

गा. 676 व्रतों में अनुपस्थापित और आयंबिलादि सामाचारी जिसने नहीं की, ऐसे शिष्य को जो मंडली में ही रखकर भोजन करते हैं, वह गुरु उस समय से ही गुप्ति के विराध

होते हैं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

गा. 677 इसलिए भव को धारण करने वाली अर्थात् भव को बढ़ने से रोकने वाली, प्रधान, पवित्र गुप्ति की रक्षा करते हुए गुरु द्वारा यथाविधि परिणत शिष्य ही मोक्ष में प्रवेश कराने योग्य है।

अव. 4. व्रत पालन के उपाय-

गा. 678 इस शिष्य को गुरु, गच्छ, वसति, संसर्ग, भक्त, उपकरण, तप, विचार, भावना, विहार और

(द्वार) यतिकथा - स्थानों में प्रयत्न करना चाहिए। ऐश्वर्यार्थी के लिए दृष्टांत -

गा. 679-82 भाग्योदय से महाकष्ट से प्राप्त धन श्रीमंतों का धन नाश होने के निम्न कारण हैं - (i) सुख का विरह - लोभी राजा लोगों का धन ले लेता है (ii) दुर्जनों के साथ रहने से - चोर पल्ली वि. में रह (iii) अत्यक्षण गृहवास योग - दुष्ट पशु या दुष्ट पुरुष घर में होने से (iv) दुष्टसंग (v) अपथ्य आहार लेने से (vi) योगित वस्त्रादि - मंत्रादि से मंत्रित उपकरणों से (vii) अजीर्णभोग - अजीर्ण होने पर भी खाना (viii) कुविचार (ix) अशुभाध्यवसाय (क्रोधादि) (x) अयोग्य स्थान में विहार (xi) विरुद्ध कथा

गा. 683 उक्त कारणों से विपरीत कारणों से श्रीमंतों का धन बढ़ता है। दार्ष्टान्तिक -

गा. 684 इस प्रकार ही भाव धन यानि चारित्र भी अवश्य बढ़ता है। यहाँ राजादि के स्थान पर गुर्वादि जानना

गा. 685 अप्रतिहत सामर्थ्य वाले गुरु वि. विशुद्ध स्थानों के प्रभाव से विधि पूर्वक गुरुसेवा में तत्पर सुशिष्य का चारित्र अवश्य बढ़ता है।

गा. 686-7 पति स्वामी वि. अच्छे हो किंतु पुण्य न हो तो धन नहीं बढ़ता किन्तु यहाँ तो शुभ स्थान के संबंध में आज्ञा की आराधना से चारित्र धन अवश्य बढ़ता है। उपसंहार (गा. 678-688 का)

गा. 688 इसलिए विशुद्ध परिणाम वाले, चरण में स्थित और जिनाज्ञा को आराधते साधु को शोभन गु वि. स्थानों में प्रयत्न करना चाहिए।

अव. गुरुकुलवास का महत्त्व -

गा. 689 जैसे सेठ स्वामी को नहीं छोड़ता वैसे महान् गुणों से युक्त गुरु को शेष गुणों के लाभ से चारित्र रूपी धन के लिए साधु न छोड़े।

गा. 690 गुरु पुण्य के समूह होने से उनका दर्शन प्रशस्त है। उन्हें वंदनादि करने से विनय होता है।

गुरुकुलवास मोक्षमार्ग है, इसलिए अन्य जीवों को मार्ग का दर्शन होता है। इनके पास रहने से समर्पण (निवेदना) का प्रत्यन होता है। दीक्षा के समय ही स्वयं उन्हें समर्पित कर दिया हो

गा. 691 उनके पास रहने से परम वैयावच्च होती है। गुरुकुलनिवासी गौतमादि पर बहुमान होता है क्योंकि जिनाज्ञा का पालन होता है क्योंकि जिन द्वारा गुरुकुल वास का उपदिष्ट है। विधिपूर्वक सेवन से शुद्ध ज्ञानादि का लाभ होता है।

गा. 692 स्वीकारी हुई दीक्षा सफल होती है क्योंकि दीक्षा ज्ञानादि का साधन है (साध्य सिद्ध होने से साधन सफल होता है) ज्ञानादि से परोपकार होता है। दीक्षापर्याय रूप जन्म के प्रारंभ से शुद्धकुल प्राप्त होने से शुभ ऐसी शिष्य परंपरा चलती है।

गा. 693 इस प्रकार शुद्ध मार्ग के सेवन से जन्मांतर में भी अभ्यास से मार्ग प्राप्त होता है। अतः परंपरा से अवश्य मोक्ष होता है।

गा. 694 इस प्रकार गुरुकुलवास परमपद (मोक्ष) का कारण है इसलिए एक ही भव में सिद्ध होने वाले गौतमादि द्वारा भी सेवन किया गया।

गा. 695 इसलिए स्वयं का कुल (गृह) छोड़कर उत्तमकुल में उत्पन्न पुरुष को दीक्षा स्वीकार कर गुरुकुलवास को सेवना चाहिए। अन्यथा घर का और दीक्षाकुल दोनों का त्याग होता है। दोनों का त्याग अवश्य अनर्थ फलदायी होता है।

अब- गच्छवास इसका महत्त्व-

गा. 696 गुरु का परिवार, साधु का वर्ग गच्छ होता है। गच्छ में रहते साधु को विपुल निर्जरा होती है क्योंकि (i) विनय से (ii) स्मारणा वि. कारणों से दोष का स्वीकार नहीं होता।

गा. 697 सुचारित्रवालों का विनय करना, अन्यशैक्षकों द्वारा कराना अतिप्रशस्त है। तथा कोई कुशलयोग (अनुष्ठान) भूल जाए तो याद कराना अथवा स्वयं भूल जाए तो अन्य याद कराए, इस प्रकार स्मारणा (सारणा) होती है।

गा. 698 इस ही प्रकार गच्छ में वारणा यानि अहित प्रवृत्ति से रोकना जानना। अधिक गुणकारी कृत्य में प्रेरणा करना = चोयणा (प्रेरणा)। इस प्रकार स्व-पर का फल सिद्ध होता है।

वसति विधि

गा. 699 इस प्रकार परस्पर के आलंबन से विनयादि योगों में प्रवर्तते साधु गच्छवासी साधु अवश्य असंगपद= मोक्ष का साधक होता है

अव. गुण रहित गच्छ हो तो -

गा. 700 कारण विशेष रहित गच्छ को, गुणों से क्षीण होते गच्छ को, जिसने स्वजनों का त्याग किया है, ऐसे साधु सूत्रविधि पूर्वक छोड़े। कारण -

गा. 701 क्योंकि शिष्य, गुरुभाई अथवा एक गण में रहे साधु सुगति में नहीं ले जाते किन्तु जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र शुद्ध हैं, वे मोक्ष मार्ग है।

अव. गुरुकुलवास में गच्छ तो होता ही है, ऐसी शंका और उत्तर -

गा. 702 पूर्वपक्ष- गुरुकुलवास होने पर गच्छ तो निश्चित होगा ही क्योंकि गुरुपरिवार ही गच्छ है। अतः गुरुकुलवास के बाद गच्छ क्यों बताया?

गा. 703 उत्तर- गच्छ में गच्छ को लाभ हो, उसतरह रहे, गच्छ के उचित मर्यादा में स्थिर रहे इसलिए यहाँ गुरु के बाद गच्छ का उल्लेख किया है।

गा. 704 अन्यथा स्वयं के स्वार्थ से ही रहे, परस्पर के उपकार को छोड़कर रहे तो वह गणवासतुल्य ही है। गच्छ पक्ष तुल्य है। स्वतंत्र प्रधान रहे तो वह अक्षत्र समान गच्छवास नहीं है क्योंकि गच्छ के फलों का अभाव होता है।

गा. 705 इस प्रकार ही वसति आदि शेष द्वारों में सफलत्व को जोड़ना।

वसति की सफलता - सामान्य से वसति शुद्ध होने पर भी सदा स्थविर द्वारा दी हुई जगह पर संथारा करने आदि मर्यादा से वसति की सफलता है, स्वतंत्रता से रहने में नहीं।

अव. वसति विधि -

गा. 706 (द्वार) 1. मूल और उत्तरगुण से परिशुद्ध तथा स्त्री-पशु-पंडक से रहित वसति को सदा सेवन करना चाहिए। विपर्यय करने में अर्थात् अशुद्ध वसति या स्त्री आदि से संसक्त वसति में दोष होते हैं।

अव. मूलगुणों से कैसी वसति दुष्ट होती है -

वसति के मूलगुण, उत्तरगुण एवं दोष

वसति के सामान्य दोष

गा. 707 1.

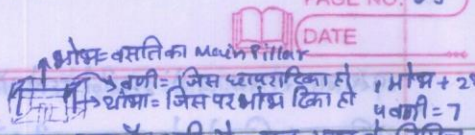

इन सातों के वसति के मूलगुण कहा जाता है। यदि ये वस्तु साधु के निमित्त से बनाए हो तो वसति मूलगुण से युक्त किन्तु अशुद्ध (आधाकर्मी) होती है।

उत्त. उत्तरगुण - 2 प्र. (i) मूल उत्तरगुण (ii) उत्तर उत्तर गुण। मूल उत्तर गुणों को कहते हैं -

गा. 708 2. वंश = दीवाल पर आड़े रखे बाँस। करन = मकान को ढाँकने का छापरा। अवकंबन = छत बनाने के दंडे। छादन = घास से ढाँकना। लेपन = दीवाल लीपना। द्वार = दरवाजा। भूमि = विषम भूमि को सम करना। ये 7 मूल उत्तर गुण हैं। ये यदि साधु निमित्तक हो तो वसति मूल उत्तर गुण में अशुद्ध है।

अव. (ii) उत्तर उत्तर गुण -

गा. 709 धूमिता = चूने से सफेद की हुई। धूपिता = धूप से सुगंधित। वासिता = सुगंधी चूर्ण से सुगंधित। उद्योतित = रत्न, दीपकादि से प्रकाशित। बलिकृता = चावल वि. का बलि चूर्ण डाला हो। आवर्ता = लींपी हुई। सिक्ता = पानी छींटी हुई। संमृष्टा = साफ की हुई। ये सात उत्तर उत्तर गुण हैं। ये यदि साधु निमित्तक हो तो वसति अशुद्ध।

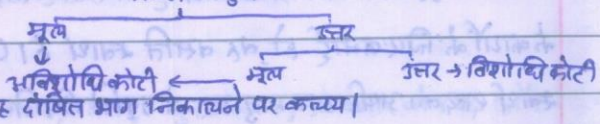

विशोधि कोटी = वह दोषित भाग निकालने पर कल्प्य।

गा. 710-11 चतुः शाल्यादि प्रकार वाली वसति में भी इस प्रकार ही व्यवस्था समझना। जिन साधुओं को गच्छ में ज्ञान सिद्ध हो गया है, वे ज्यादातर गाँवों में ही विचरते होने से उन्हें इस प्रकार की वसति नहीं ~~मिलती~~ मिलती अतः यहाँ साक्षात् वर्णन नहीं किया।

अव. सामान्य से वसति के दोष -

गा. 712 (प्रतिद्वार) 1. कालातिक्रान्ता 2. उपस्थाना 3. अभिक्रान्ता 4. अनभिक्रान्ता 5. वर्ज्या 6. महावर्ज्या 7. सावद्या 8. महासावद्या 9. अल्पक्रिया।

गा. 713 1. कालातिक्रान्ता = जिसमें चौमासे में 4 और शेष काल में 1 महीने से अधिक रहे।

स्त्री वर्जित वसति

PAGE NO
DATE

2. उपस्थाना= शेष काल में 2 महीने पहले और चातुर्मास में 4 महीने पहले जो फिर से उसी वसति में आए।

गा.714 3. अभिक्रान्ता= जितने लोग आए, सभी वहाँ रुके अर्थात् सर्वसामान्य होने से वह वसति चरकादि अन्य धर्मी और गृहस्थों द्वारा भी सेवित हो।

4. अनभिक्रान्ता= सर्वसामान्य वसति में का किसी ने भी उपयोग न किया हो और साधु रहे।

गा.715 5. वर्ज्या= गृहस्थ स्वयं की वसति साधु को देकर स्वयं अन्य वसति बनाए। पूर्वकृत वसति को दूसरे को देने से गृहस्थ वर्जन करते हैं इसलिए वर्ज्या कहा।

गा.716 6. महावर्ज्या= पाखंडी आदि के लिए बनाई हुई वसति।

7. सावद्या= 5 प्रकार के श्रमणों के लिए बनाई हुई वसति।

8. महासावद्या= मात्र निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए बनाई हुई वसति।

निर्ग्रंथ (जैन साधु), शाक्य (बौद्ध साधु), तापस (जटाधारी वनवासी), गैरुक (गेरुए वस्त्र वाले भिक्षु) आजीवक (गोशाले के मतानुयायी), ये 5 श्रमण हैं।

गा.717 9. अल्पक्रिया = जो वसति उपर्युक्त दोषरहित, गृहस्थ निमित्तक, परिकर्मरहित हो वह। अल्प शब्द अभाववाची है। यह वसति शुद्ध है।

गा.718 जो वसति गृहस्थ ने स्वयं के उपयोग के लिए या जिनबिंब की प्रतिष्ठा के लिए या जिन पूजा के कार्यों के लिए बनाई हो, वह वसति स्वार्थ है। (ऊपर की गाथा 717)

गा.719 स्वार्थ शब्द का अर्थ= आगमानुसार जो प्रवृत्ति निरतिचार होती है, वही स्वार्थ है क्योंकि उससे दोनों लोक का हित होता है। साधुओं के लिए वसति बनाने से अशुभ प्रवृत्ति होती है तथा साधुओं के चारित्र में पीड़ा होती है अतः वह स्वार्थ नहीं है। (प्रतिद्वार गा.712 पृ

भव. 3. स्त्री वर्जित वसति कहते हैं -

गा.720 जहाँ स्त्रियों के स्थान और रूप न दिखे, स्त्रियों के शब्द न सुनाए। तथा जहाँ स्त्रियों को भी पुरुषों के स्थान, रूप न दिखे, शब्द न सुनाए वह स्त्री वर्जित वसति जानना।

गा.721 जहाँ स्त्रियाँ परस्पर कथा करते हुए या गुप्त बातें करती हुई या अति शारीरिक कार्यादि करते हुए रहती हैं, वह स्त्रियों का स्थान कहा जाता है। जहाँ स्थान होता है, वहाँ शायद शब्द न

सुनाए किन्तु रूप तो अवश्य दिखता है। इसलिए वह स्थान वर्ज्य है।

अव. इसमें दोष कहते हैं -

गा. 722 वहाँ ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है (प्रतिषिद्ध वसति में रहने से)। विज्ञा का नाश होता है। आसन्न दर्शन से प्रीति की वृद्धि होती है, क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है। 'अहो! यह साधु तपस्वी वनवासी है' ऐसी लोक निंदा होती है। तद्द्रव्य या अन्य द्रव्यों का व्यवच्छेद। लोक की अप्रवृत्ति से तीर्थ की परिहानि होती है।

अव. स्थानादि दोष को विशेषत: कहते हैं -

गा. 723 स्त्रियों की लीलापूर्वक चाल, खड़े रहना, अंगड़ाई लेना, कटाक्षादि, गुस्सा, हसता चेहरा, शृंगारादि बहुत प्रकार की विशिष्ट चेष्टाओं को देखकर भुक्तभोगी को स्मृत्यादि और अभुक्तभोगी साधु को कौतुकादि दोष।

अव. इस संबंध में स्त्री की अपेक्षा दोष -

गा. 724 अल्प: = कठिनीभूत:, भृत्य: उद्वर्तित: सन् अपगच्छति। अल्प, भृत्य से स्निग्ध अंग वाले साधुओं के देह की लावण्यश्री भी ऐसी होती है, तो गृहवास में तो सौ गुना होगी - इस प्रकार साधु को देखकर स्त्री विचारे।

अव. शब्द दोषों का -

गा. 725 स्त्रियों के गीत, वचन, हास्य, मधुर उल्लाप, अलंकार के शब्द और राहस्य (पुरुष द्वारा भुज्यमान स्त्री की आवाज) को सुनकर भुक्त इतर साधुओं को स्मृति कौतुकादि दोष।

अव. इस संबंध में स्त्री की अपेक्षा दोष -

गा. 726 जिन साधुओं के स्वाध्याय का स्वर गंभीर, मधुर, स्पष्ट, विशद, आकर्षक और मनोहारी है तो गीत का तो कैसा होगा? अर्थात् अत्यंत सुंदर होगा।

गा. 727 इस प्रकार दुर्जिजय मोहनीय कर्म से परस्पर दृढ़ राग होता है। इसलिए स्त्री से प्रतिबद्ध स्थान छोड़ना चाहिए।

गा. 728-9 पूर्व भवों के अभ्यास से पशु और नपुंसक में भी मोह रूपी अग्नि से जले हुए जीवों

पार्श्वस्थादि साधुओं के संसर्ग के दोष

की अशुभ प्रवृत्ति होती है। इसलिए ममत्वशून्य, निश्शंस साधु को स्त्री-पशु-पंडक वर्जित वसति का सेवन करना चाहिए। विपरीत करने में आज्ञादि दोषों। (द्वारगा-706 पूर्ण)

अव. संसर्ग दोष-(पार्श्वस्थादि साधुओं के संसर्ग का दोष)

गा. 730 पार्श्वस्थादि अकल्याणमित्रों के साथ संसर्ग यानि संबंध का वर्जन करना चाहिए से शुद्ध चारित्रवाले, धीर साधुओं के साथ अप्रमत्त होकर संसर्ग करना चाहिए। कारण-

गा. 731 जो कोई जिसके साथ संसर्गरूप मैत्री करता है, वह जल्द ही उसके जैसा हो जाता है। जैसे फूलों के साथ रहते तिल भी फूल जैसी सुगंधवाले हो जाते हैं।

गा. 732-3 पूर्वपक्ष-वैडूर्य मणि काच के साथ प्रकर्षता से मिश्रित किया हुआ भी, बहुत काल में भी स्वयं के निर्मलगुणों से काच के धर्मों को प्राप्त नहीं करता। नत्वस्तंबवृक्ष विशेष ईक्षु के साथ रहने पर भी मधुर नहीं होता। इस प्रकार सुसाधु भी पार्श्वस्थादि के साथ से वैसा नहीं होगा।

गा. 734 उत्तर- द्रव्य २ प्र. के होते हैं। (i) भाव्य - जो प्रतियोगी के संयोग से इसके जैसे हो जाए (ii) अभाव्य - जो प्रतियोगी से प्रभावित नहीं होते। वैडूर्य आदि अभाव्य द्रव्य हैं।

गा. 735 जीव अनादि कालीन और मरणरहित है। वह संसार में पार्श्वस्थादि द्वारा आचरित प्रमादादि भावनाओं से भावित है। इसलिए संसर्गदोष से वह ~~प्रमादि~~ प्रमादादि भावनाओं से जल्द ही ग्रस्त हो जाता है।

गा. 736 यदि आपको दृष्टांत से ही संतोष होता है तो जैसे आपके पास दृष्टांत है वैसे हमारे पास भी दृष्टांत है। आम्र और नीम वृक्ष की जड़ साथ हो तो आम भी कड़वा हो जाता है।

अव. दोष -

गा. 737 पार्श्वस्थादि के आचरण से अक्रिया होती है। लोक निंदा। पार्श्वस्थादि संबंधी पाप में अनुमोदना। आज्ञादि।

अव. भोजन विधि -

गा. 738 आशंसारहित साधु द्वारा ५२ दोष से शुद्ध कल्प्य आहार वापरने योग्य है।

४ गोचरी के ४२ दोष
16 उद्गम के दोष

अभि. ४२ दोष –

गा. 739 16 उद्गम (आधाकर्मादि) + 16 उत्पादना (धात्री वि.) + 10 पिंडैषणा (शंकितादि) = ४२

गा. 740 उद्गम, प्रसूति, प्रभव आदि एकार्थ शब्द। पिंड के उद्गम में होने वाले दोष।

गा. 741-2 (द्वार) आहाकम्मुद्देसिय... | आधाकर्म ⓐ, औद्देशिक ⓑ, पूतिकर्म ⓒ, मिश्रजात ⓓ, स्थापना ⓔ, प्राभृतिका ⓕ, प्रादुष्करण ⓖ, क्रीत ⓗ, प्रामित्य ⓘ, परावर्तित ⓙ, अभ्याहृत ⓚ, उद्भिन्न ⓛ, मालापहृत ⓜ, आच्छेद्य ⓝ, अनिसृष्ट ⓞ, अध्यवपूरक ⓟ – 16 दोष।

गा. 743 ⓐ आधाकर्म = साधु के लिए सचित्त को अचित्त करे या अचित्त ही चावल वि. को पकाए।

गा. 744 ⓑ औद्देशिक = ओघ (विभाग किए बिना कुछ अधिक बनाए), विभाग (स्वयं का और भिक्षु का विभाग कर बनाए) 2 भे। विभाग औद्देशिक के 3 भे. – उद्दिष्ट किसी प्रसंग में बढ़े हुए भोजन को सीधे ही दे। कृत = उस भोजन में कुछ संस्कार कर दे। कर्म = भोजन को चूल्हे पर गर्म कर अधिक संस्कारित कर दे।

गा. 745 ⓒ पूति = आधाकर्म के अवयव से युक्त आहार। उपकरण और भक्त पान – 2 भेद।

ⓓ मिश्रजात = पहले से ही गृहस्थ और साधु का भोजन साथ में बना हो।

गा. 746 ⓔ स्थापना = साधु के मांगने पर दूधादि साधु निमित्त रखे।

ⓕ प्राभृतिका – सूक्ष्म-बादर, उत्सर्पण = अवसर्पण। सूक्ष्म = पुत्र द्वारा मांगने पर कहे साधु आएँगे तब तुझे दूँगी (उत्सर्पण), साधु के लिए खड़ी हुई माँ पुत्र को कहे चल! तुझे भी देती हूँ (अवसर्पण)। बादर = साधु समवसरण में आएँगे या आए तो विवाहादि प्रसंग को आगे-पीछे करे। यह दोष कुगति की भेंट (प्राभृत) समान होने से प्राभृतिका

गा. 747 ⓖ प्रादुष्करण = नीचे द्वार वाले या अंधेरे वाले घर में गवाक्ष करना, दीप या मणि रखना।

ⓗ क्रीत = द्रव्य या भाव से साधु के लिए खरीदना।

गा. 748 ⓘ प्रामित्य = साधु के लिए उधार लेकर देना।

ⓙ परावर्तित = ~~कर्मकरी~~ गौरवादि के कारण से कौद्रव ओदनादि से शाल्योदनादि बदलना

विशोधि - अविशोधि कोटी
उत्पादना दोष - 16

PAGE NO.
DATE

गा. 749 (k) आध्याहृत = स्व या पर ग्राम से लाकर दे।

(l) उद्भिन्न = गोबर, मिट्टी से उपलिप्त भूमि को उखाड़कर दे।

गा. 750 (m) मालापहृत = जो मंडकादि माल्य आदि से उतारकर दे। आदि से अधोमाल्यादि।

(n) आच्छेद्य = स्वामी नौकर वि. से छिन कर दे।

गा. 751 (o) अनिसृष्ट = अनेक मालिक वाला भोजन कोई एक दे।

(p) अध्यवपूरक = स्वयं के लिए मूंग वि. पकाने पर साधु के लिए नए प्रक्षेप। (द्वारगा. 741-दूण

अव. विशोधि - अविशोधि कोटी के भेद कहते हैं -

गा. 752 आधाकर्म, औद्देशिक के 4 out उभेद समुद्देशादि, भक्तपानपूति, मिश्रजात, बादर प्राभृतिका, अध्यवपूरक = अविशोधि कोटी (दोषित अंश निकालने पर भी अशुद्ध)। शेष विशोधि कोटी।

अव. उत्पादना दोष -

गा. 753 उत्पादना, सम्पादना, निर्वर्तना वि. एकार्थक शब्द। ग्रहण करना।

गा. 754-5 (द्वार) धात्री, दूती, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वसंस्तव, (a) (b) (c) (d) (e) (f) (g) (h) (i) (k)
पश्चात्संस्तव, विद्या, मंत्र, चूर्ण, योग, मूलकर्म
(l) (m) (n) (o) (p)

गा. 756 (a) धात्री = पिंड के लिए बालकादि को नहलाना वि. धात्री के कार्य करे।

(b) दूती = पुत्री वि. के संदेश लाने रूप।

(c) निमित्त = भूत या भविष्य का कथन।

(d) आजीव = जाति वि कर्म की प्रशंसा आदि करना।

गा. 757 (e) वनीपक = जो जिन बौद्ध भिक्षु वि. का भक्त है, उसे उनकी प्रशंसा वि. से सेवे।

(f) चिकित्सा = चारित्र मोह कर्म से मूढ़ साधु आहार के लिए सूक्ष्म या बादर चिकित्सा करे। सूक्ष्म वैद्यादि का नाम बताना। बादर स्वयं चिकित्सा करना।

गा. 758 (g) क्रोध = 'यह साधु गुस्सा होगा तो अनर्थ करेगा' ऐसे भय से प्राप्त पिंड। दृ. क्षपक मु

(h) मान = गृहस्थ को अभिमान वाला बनाकर ग्रहण की हुई भिक्षा। दृ. सेवकिका का

(i) माया = वेश परिवर्तनादि माया कर पिंड ग्रहण करे। eg. चेल्लक मुनि.

गा. 759 (j) लोभ = आहार के लालच से घुमे। eg. सिंहकेसरिया मोदक वाला।

चारों दृष्टांत पिंड निर्युक्ति से जानना।

(k) पूर्व-पश्चात्संस्तव = आहार के लिए eg. से परिचय करे।

(l) विद्या = देवताधिष्ठितो ऽक्षरविन्यासः।

(m) मंत्र = देवाधिष्ठितः मंत्रः। (n) चूर्ण = पादलेप वि.।

(o) योग = वशीकरण वि.। आहार के लिए इनका प्रयोग करे।

गा. 760 (p) मूलकर्म = गर्भ परिशातनादि करे। ये दोष साधु से उत्पन्न होते हैं।

(द्वार गा. 754-5) पूर्ण

अब. एषणा दोष –

गा. 761 एषणा, गवेषणा, अन्वेषणा, ग्रहण वि. एकार्थी शब्द। (10 दोष)

गा. 762 (द्वार) शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, छर्दित।

(a) (b) (c) (d) (e) (f) (g) (h) (i) (j)

गा. 763 (a) शंकित = जिस आहार में आधाकर्मादि दोषों की शंका हो।

(b) म्रक्षित = पानी वि. से युक्त भंडकादि।

(c) निक्षिप्त = सचित्तादि पर रखा आहार।

(d) पिहित = सचित्त फलादि से ढंका हुआ।

गा. 764 (e) संहृत = भाजन में रहे अयोग्य कुधितरसादि को पृथ्वी वि. काय पर रखकर दे।

(f) दायक = बाल वृद्ध आदि अयोग्य से भिक्षा न ले।

(g) उन्मिश्र = बीज कंद आदि से युक्त भिक्षा दे।

गा. 765 (h) अपरिणत = सचित्त द्रव्य दे। अथवा भाव से दो भालिक में से एक दाता अपरिणत हो।

यहाँ भालिक के समक्ष ही दान दे तो यह दोष। परोक्ष दे तो अनिसृष्ट।

(i) लिप्त = वसा वि. गर्हित द्रव्य से लिप्त आहार दे।

(j) छर्दित = ढोलते - ढोलते दे। (द्वार गा. 762 पूर्ण)

गा. 766 इस प्रकार पिंड के 42 दोष गृहस्थ - साधु - दोनों से होने वाले। संयोजनादि 5 दोष

मंडली के 5 दोष

उपकरण द्वार

मंडली में बैठे साधु के होते हैं।

अव. 5 दोष मंडली के -

गा. 767 संयोजना, पिंड का प्रमाण, अंगार = राग, धूम = द्वेष, कारण वेदनादि।
(द्वार) ⓐ ⓑ ⓒ ⓓ ⓔ

अ. ⓐ संयोजना = 2 प्र. उपकरण - भक्त पान विषयक, दोनों के 2-2 प्र. - बाह्य - अभ्यंतर।

बाह्य उपकरण संयोजना = कोमल्य चोल्लपट्टा वि. मिलने पर बाहर ही उसके उचित क्रमली वि. ढूंढे।

अभ्यंतर संयोजना = वसति में आते समय।

भक्तपान = में ऐसे ही जोड़ना।

गा. 768 ⓑ प्रमाण = 32 कवल पुरुष, 28 स्त्री के।

ⓒⓓ अंगार, धूम = राग-द्वेष सहित वापरना। राग से चारित्र जलने से। द्वेष से चारित्र रू इंधन जलने से।

ⓔ कारण = वैयावृत्य, वेदनादि आहार करने के कारण। (द्वार गा. 767) पूर्ण

इन विधि में अविधि करने से द्वेष दोष।

अव. उपकरण द्वार -

गा. 769 वस्त्रपात्रादि उपकरण वैसे धारण करे जिससे राग की उत्पत्ति न हो और लोक में निंदा न हो। यतना पूर्वक प्रत्युपेक्षणादि पूर्वक धारण करे। प्रमाणयुक्त, न्यून या अधिक नहीं।

गा. 770 उपधि प्रमाण - 2 प्र. 1. गणना प्रमाण 2. मान प्रमाण। गणना यानि संख्या। लंबाई-चौड़ाई स्वरूप से मान।

गा. 771 जिनकल्पिक को 12 प्र. की पात्रादि उपधि, स्थविरकल्पी 14 प्र., साध्वी 25 प्र. की उपधि उत्सर्ग से होती है। इससे ज्यादा जो उपधि हो, वह औपग्रहिक है।

अव. जिनकल्पी की उपधि -

गा. 772-3 1. पात्र 2. पात्रबंध 3. पात्रस्थापन 4. पात्रकेसरिका 5. पटले 6. रजस्त्राण 7. गुच्छे 8, ये पात्र निर्योग है। 3 कल्प (कपड़े), रजोहरण, मुहपत्ति - ये 9 पात्र + 5 = 12 उपधि जिनकल्पी की।

गा. 774 जिनकल्पी की ये उपधि उत्कृष्ट से 12 होती है इससे अधिक नहीं होती किंतु स्थवी जि

उपधि की गणना
उपधि के उत्कृष्टादि भेद

PAGE NO. 71
DATE

कल्पी को 12 हो ही, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि निशीथ भाष्य में कहा है कि -

गा. 775 — 2, 3, 4, 5, 9, 10, 11, 12 ये 8 विकल्प जिनकल्पी के उपधि के विकल्प हैं।

गा. 776-7 — 2 → रजोहरण, मुहपत्ति। 3 → एक कल्प + । 4 → 2 कल्प + । 5 → 3 कल्प + । ये पात्र नहीं रखने से हाथ में भोजन करने वाले हस्तभोजि जिन कल्पिक होते हैं।

गा. 778 — 9, 10, 11, 12 विकल्प पात्रधारी जिनकल्पी के जानना। 9 → रजोहरण, मुहपत्ति + 7 उपधि पात्रनिर्योग। 10 → 2 + 1 कल्प + 7 पात्र निर्योग। 11 → 2 + 2 कल्प + 7। 12 → 2 + 3 कल्प + 7।

अब. — स्थविरकल्पी की उपधि -

गा. 779 — उपर्युक्त 12 + 1 मात्रक + 1 चोलपट्ट = 14।

अब. — साध्वी की उपधि -

गा. 780-783 — साधु की 14 में से चोलपट्ट सिवाय 13 + 1 कमढक + 11 (नीचे) = 25

11 → अवग्रहानन्तक, पट्ट, अर्द्धोरुक, चलनिका, अंतर्निवसनी, बहिर्निवसनी, कंचुक, उत्कक्षिका, वैकक्षिका, संघाटी, स्कंध करणी।

अब. — जो उपधि चुम जाए तो आने वाले प्रायश्चित्त अनुसार उपधि के भेद -

गा. 784-787 — उपधि के 3 प्र. - (i) उत्कृष्ट = जिसके धुमने पर उत्कृष्ट प्रायश्चित्त (ii) मध्यम। (iii) जघन्य। जिन कल्पी और स्थविर की 5 उपधि उत्कृष्ट → 3 कल्प + पात्र, ~~6 मध्यम~~ 5 जघन्य → गुच्छे, पात्रस्थापन, मुहपत्ति, पात्रकेसरी, 6 मध्यम → पल्ले, रजस्त्राण, पात्रबंध, रजोहरण, पट्ट, मात्रक।

गा. 788-791 — साध्वी की 8 उपधि उत्कृष्ट → 3 कल्प, अंतर्निवसनी, बाह्य निवसनी, संघाटी, स्कंध करणी, पात्र। 13 मध्यम उपधि → पात्र बंध, पल्ले, रजोहरण, मात्रक, कमढक, रजस्त्रा अवग्रहानन्त, पट्ट, अर्द्धोरुक, चलनि, उत्कक्षिका, कंचुक, वैकक्षिका। 5 जघन्य उपधि → मुहपत्ति, कसरिका, पात्रस्थापन, गुच्छे।

भाव प्रमाण और प्रयोजन - पात्र निर्योग

PAGE NO
DATE

अव. गणना प्रमाण कहा। अब भाव प्रमाण- (पात्र का भाव)

गा.792 3 वेंत और 4 अंगुल पात्र का मध्यम प्रमाण है। यह लंबाई परिधि (circumference) की लेना। इससे छोटा- जघन्य और बड़ा उत्कृष्ट पात्र है।

गा.793 अथवा पात्र का प्रमाण स्वयं के आहार के प्रमाण से भी गिन सकते हैं। इसे कालप्रमा सिद्ध और उदर प्रमाण सिद्ध कहा जाता है।

गा.794 सद्रव आहार से 4 अंगुल न्यून पात्र भरा हो और जेठ मास जैसी गर्मी में 2 गाउ दूर से आया हुआ और काल तथा मार्ग से थका हुआ साधु को बराबर हो, वह काल प्रमाण सिद्ध कहा जाता है।

गा.795 सामान्य साधु इस प्रमाण का पात्र रखे। यदि जंगल में हो, दुर्भिक्ष हो, शत्रु राजा ने घ घेरा या अन्य कोई भय से गोचरी दुर्लभ हो तो बड़ा पात्र रखे।

गा.796 वैयावृत्त्यकर विपुल निर्जरा के लिए महाप्रमाण लाया नंदी पात्र औपग्राहिक उपधि तरीके धारण करे, औधिक नहीं। शेष साधु प्रमाण युक्त पात्र ही रखे। क्यों-

गा.797 कोई नाविकादिश्रीमंत आपत्ति विशेष में भाजन भरकर दोराए तो नंदीपात्र का उपयो करे। शेषकाल में नंदीपात्र का उपयोग निषिद्ध है।

अव. पात्रबंध का भान-

गा.798 भाजन के प्रमाण से पात्रबंध का प्रमाण इस तरह करे कि गांठ बांधने के बाद दो कोण 4-4 अंगुल के हो। झोली में हमेशा 4 गांठ नहीं होती किंतु अभी आचरणा से बांधी जाती है।

अव. पात्र स्थापन, गुच्छे, पूंजनी का प्रमाण-

गा.799 इन तीनों का प्रमाण 1 वेंत और 4 अंगुल = 16 अंगुल है। पात्रस्थापन ऊन का होता है।

अव. पात्रनिर्योग का प्रयोजन-

गा.800-1 पात्रबंध- रज वि. से रक्षा के लिए। पात्र स्थापन - प्रमार्जन के लिए। गुच्छे - पत्र के पडिलेहन के लिए। केसरिका - पात्र प्रमार्जन के लिए

अव. पल्ले का स्वरूप, प्रमाण और प्रयोजन -

गा. ४०२ जिनके बीच सूर्य न दिखे, ऐसे स्वरूप वाले पल्ले होते हैं। काल की अपेक्षा से 3, 5 या 7 होते हैं। केले के गर्भ जैसे चिकने, और हल्के होने चाहिए।

गा. ४०३ ग्रीष्म में 3 पल्ले क्योंकि काल अत्यंत रुक्ष होने से पृथ्वी रज वि. जल्दी अचित्त होने से पल्ले को भेदकर अंदर जाए, ऐसा संभव नहीं है। हेमंत ऋतु में 5 पल्ले क्योंकि स्निग्ध काल होने से पृथ्वी रज वि. विमर्दन से सचित्त होते हैं, जिससे पल्ले का भेद संभव है। वर्षा में 5 पल्ले क्योंकि काल अत्यंत स्निग्ध होने से रज बहुत देर से अचित्त होती है, जिससे पल्ले का भेद जल्दी होता है, यदि पल्ले अत्यंत अच्छे हो (अर्थात् अच्छी Quality के) तो उपर्युक्त संख्या। अन्यथा -

गा. ४०४ मध्यम कक्षा के पल्ले ग्रीष्म में 4, हेमंत में 5, वर्षा में 6।

गा. ४०५ जघन्य कक्षा के पल्ले ग्रीष्म में 5, हेमंत में 6, वर्षा में 7।

गा. ४०६ $2\frac{1}{2}$ हाथ लंबे और 36 अंगुल चौड़े। अथवा स्वशरीर और पात्र के प्रमाण अनुसार छोटे-बड़े पल्ले रखे।

गा. ४०७ पुष्प, फल, उदक, रज, रेणु, शकुन-काकादि पुरीष परिहार के लिए और पुरुष चिह्न के रक्षण के लिए इनका उपयोग किया जाता है।

अव. रजस्त्राण का प्रमाण - प्रयोजन -

गा. ४०८ रजस्त्राण का माप पात्र प्रमाणे रखना। पात्र को चारों तरफ से लपेटते, पात्र की पडघी से शुरू कर, मुख पर 4 अंगुल या अधिक रहे, उतना रखे।

गा. ४०९ ग्रीष्म के चूहे द्वारा किए गए रज के ढेर, वर्षा में ओस, पानी और सचित्त रज से रक्षा के लिए रखे। चारित्र की वृद्धि भी होती है।

अव. पात्र का प्रयोजन -

गा. ४१० जिनों द्वारा पात्र को ग्रहण षट्काय की रक्षा के लिए; पात्र रखने से आधाकर्म का परिहार

कल्प, रजोहरण, मुहपत्ति- प्रमाण और प्रयोजन

होता है (कोई एक वर भोजन न करने से)। परिशातन आदि का परिहार। जो गुण संडत्ती में होते हैं, वे पात्रग्रहण में भी होते हैं।

गा. 811 अशक्त ग्लान, बाल, वृद्ध, शैक्षक, प्राघूर्णक, गुरु, क्षुत्-पिपासा को असहनशील, अल्पलब्धि वाले आदि के लिए पात्रग्रहण करना चाहिए।

अव. कल्प प्रमाण-

गा. 812 लंबाई शरीर के प्रमाण। चौड़ाई स्थविरकल्पी को शरीर प्रमाण और जिनकल्पी को 2½ हाथ। 2 कपड़े कॉटन के। 1 कपड़ा ऊन का।

अव. कल्प का प्रयोजन-

गा. 813 कमजोर संहनन वाले को ठंड में तृण ग्रहण न करना पड़े और अग्नि का सेवन न करना पड़े। समाधि रहने से धर्म और शुक्लध्यान हो सके। ग्लान और मृतक को ओढ़ाने के लिए।

अव. रजोहरण का मान-

गा. 814 सामान्य से 32 अंगुल। 24 अंगुल दंड + 8 अंगुल दशी।

अव. रजोहरण का प्रयोजन-

गा. 815 कुछ वस्तु लेने-रखने में, भूमि पर कायोत्सर्ग करना, उठने-बैठने में, शरीर संकोचन-प्रसारण में प्रमार्जन के लिए और साधु का लिंग। चिह्न के लिए।

अव. मुहपत्ति का प्रमाण-

गा. 816 एक वेंत और 4 अंगुल। मतांतर जितने प्रमाण से मुँह ढँक जाए।

अव. मुहपत्ति का प्रयोजन-

गा. 817 संपातिम जीव, रज, रेणु मुँह में न जाए। वसति प्रमार्जन के समय मुख और नाक बांधे नाक या मुँह में भस्मा न हो इसलिए स्थंडिल भूमि में मुँह-नाक बांधे।

अव. मात्रक का प्रमाण-

गा. 818 प्रायः देश में प्रसिद्ध प्रस्थ प्रमाण से कुछ अधिक (प्रस्थ यानि 4 सेर)। गुरु के प्रायोग्य

मात्रक और चोलपट्ट - प्रमाण और प्रयोजन

द्रव्य और संसक्त आहार मिलने पर मात्रक रखने की अनुज्ञा है। यदि संसक्त आहार मिले तो शुद्ध आहार पात्र में अलग निकालने के लिए मात्रक आवश्यक है। यदि शुद्ध प्रायोग्य द्रव्य सुलभ हो और संसक्त आहार दुर्लभ हो तो मात्रक वैयावृत्त्य कर ही रखे। यदि इसके विपरीत देश हो तो प्रत्येक संघाटक मात्रक रखे। संसक्त आहार प्रायः चौमासे में ही मिलता है इसलिए चौमासे में रखने की छूट है।

गा. 819 अथवा 2 गाऊ से चलकर आया साधु एक स्थान पर दाल-चावल से भरा पात्र जितना वापरे, उतना मात्रक का प्रमाण।

प्रश्न. मात्रक का प्रयोजन -

गा. 820 आचार्य प्रायोग्य, ग्लान, प्राघूर्णक प्रायोग्य या घी वि. दुर्लभ होने पर अथवा अपर्याप्त लाभ होने पर अथवा संसक्त भक्त पान मिलने वाले देश और काल (वर्षाकाल) में मात्रक का भोग करना चाहिए।

प्रश्न. चोलपट्ट का प्रमाण -

गा. 821 दो अथवा चार पड़ करने पर। हाथ का चौरस हो इतना चोलपट्ट का प्रमाण है। यह पुरुषचिह्न को ढांकने के लिए होता है। वृद्ध का चोलपट्टा 2 पड़ करने पर और युवान् का 4 पड़ करने पर। हाथ [illegible] होना चाहिए। वृद्ध कोमल स्पर्श वाला पतला और युवान् कठोर स्पर्श वाला मोटा चोलपट्टा पहने क्योंकि वृद्ध का लिंग पुरुष सामर्थ्य रहित होने से कोमल स्पर्श से भी विकृत नहीं होता।

प्रश्न. चोलपट्ट का प्रयोजन -

गा. 822 वेद के उदय से किसी का लिंग विकृत हो या वायु से किसी का लिंग उन्नत रहता हो अथवा किसी का लिंग स्वाभाविक रीति से ही बड़ा हो तो उसे चोलपट्ट बिना शरम भाए और वह दीक्षा न ले सके इसलिए चोलपट्टा पहनना चाहिए और किसी को लिंगोदय पता न चले इसलिए चोलपट्टा पहनना चाहिए।

प्रश्न. साध्वी की उपधि -

साध्वी जी की उपाधि के मान और प्रयोजन

PAGE NO.
DATE

गा. 823 औत्सर्गिक सिवाय पात्रादि उपधि की संख्या और मान साधु जैसा ही।

प्रश्न: कमठक का मान और प्रयोजन -

गा. 824 कमठक स्वयं के ऊपर प्रमाण। स्त्रीत्व से साध्वियों को अन्य के मत्य अपराध से भी अशंकी हो जाती है। अतः एक ही पात्र होने पर दूसरे का सहयोग लेना पड़े जिससे अशुभ परिणाम हो। इसलिए सभी साध्वी को एक-एक ह कमठक अलग-अलग होता है।

प्रश्न. अवग्रहानन्तक का मान और प्रयोजन-

गा. 825 अवग्रहानंतक गुह्य योनि की रक्षा के लिए होता है क्योंकि योनि के दर्शन से मोह का उदय होता है। वह नाव की आकार का बीच में चौड़ा, आस-पास पतला होता है। स्वरूप से घन और कोमल कपड़े का, शरीर प्रमाण मान।

प्रश्न. पट्ट का मान और प्रयोजन -

गा. 826 पट्ट भी स्वशरीर प्रमाण और अवग्रहानंतक ढँक जाए उस प्रकार कमर पर अल्पकाल जैसे बांधना।

प्रश्न. अर्धोरुक का मान और प्रयोजन + चलनिका का मान और प्रयोजन -

गा. 827 जो आधी जांघ को ढांके, वह अर्धोरुक। वह अवग्रहानंतक और पट्ट दोनों को दबाव कमर ढँक जाए इस प्रकार बांधा जाता है। नीचे दोनों जांघ के अंदर के प्रदेश में बांधा जाता है। चलनिका घुटने तक लंबी और सीव्याई बिना होती है। अंदर के प्रदे में बांधी जाती है। बांस पर नाचती नटी के चोलण जैसी होती है।

प्रश्न. अंतर्निवसनी और बहिर्निवसनी-

गा. 828 अंतर्निवसनी कमर से साधी किंडली तक मजबूत बांधे, जिससे अंदर के वस्त्र दिखे नहीं। बहिर्निवसनी) नीचे पैर तक लंबी (एड़ी तक) होती है, कमर पर कंदोरे से बांधी जाती है। ये 6 उपकरण कमर से नीचे के होते हैं।

प्रश्न. कंचुक और उत्कक्षिका -

गा. 829 कंचुक सीवाई बिना का स्तन ढांकने के लिए डीला बांधना क्योंकि tight बांधने

जघन्य औपग्रहिक उपधि

में स्थान बाहर दिखते हैं। उत्कक्षिका कंचुक की तरह सीधी तरफ ढंकने के लिए।

अव. वैकक्षिका और संघाटी-

गा. 830 वैकक्षिका पट्ट की तरह कंचुक और उत्कक्षिका को ढंकने के लिए।
संघाटी संख्या से 4 होती है। एक 2 हाथ, दो 3 हाथ और एक 4 हाथ प्रमाण
2 हाथ प्रमाण संघाटी उपाश्रय में ओढ़ना किंतु संघाटी बिना कभी खुल्ले शरीर नहीं रहना।

गा. 831 3 हाथ प्रमाण एक संघाटी गोचरी और एक स्थंडिल में वापरे। गोचरी और स्थंडि
का वेश समान न दिखे इसलिए अलग-अलग ओढ़े। समवसरण, स्नात्र वि.
में 4 हाथ प्रमाण संघाटी ओढ़े। समवसरण में साध्वी को खड़े खड़े देशना
सुनना होती है तथा जानना भी खड़े-खड़े लेना होती है अतः पूरा शरीर
ढंके इस तरह 4 हाथ की संघाटी ओढ़े। संघाटी घट्ट कपड़े की होना
चाहिए।

अव. स्कंधकरणी-

गा. 832 स्कंध करणी 4 हाथ चौड़ी और लंबी होती है। वह हवा से उड़ती संघाटी की
रक्षा के लिए कंधे पर डाली जाती है। रूपवती साध्वी को पीछे पीठ पर
डालकर कुबड़ी वि. बताने के काम में आने से कुब्जा करणी भी कही जाती है।

अव. उपसंहार-

गा. 833 ये सब उपधि 29.- 1. संघातिम- जो दो-तीन कपड़े जोड़कर बनाई हो, सीली
हुई। 2. असंघातिम- जो अखंड हो, सीली हुई न हो। इस विषय में द्रव्य-क्षेत्र-
काल--भावानुसार सुसाधु ने जो आचरण किया हो वह उपादेय मानना।

अव. औपग्रहिक उपधि- (जघन्य)

गा. 834 29. | जघन्य-1. पीठक = काष्ठ या गोमय मय, नमीवाली जगह में या चौमासे
में साधु इसका उपयोग करते हैं अथवा साध्वी स्वयं के उपाश्रय में पधारे

प्रथम औपग्रहिक उपधि

साधु के विनय के लिए इसका उपयोग करती हैं। (ii) निषद्या- बैठने का आस
और पादपुंछन, यह जिनकल्पी को नहीं होता क्योंकि वे कभी बैठते नहीं।
(iii) दंडक- यह जिनकल्पी को नहीं होता क्योंकि उन्हें आते हुए उपद्रव को
नहीं रोकना चाहिए। (iv) पत्रार्जनी = वसति प्रमार्जन का साधन (दंडासन)।
(v) घट्टक = पात्र के मुख पर घिसने का लोहे का घुंटा। (vi) उगलाई = शरीर शुद्धि
लिए पत्थर-ईट के टुकड़े। (vii) पिप्पलक = उस्तरा। (viii) सूची = सुई, वस्त्र सी
के लिए। (ix) नखरदनी = लोहे का Nail Cutter। (x) कर्णशोधनक = कान का
साफ करने वाला। (xi) दंतशोधनक = दांत साफ करने की सलाई।

गा. 835 (प्रथम औपग्रहिक) - वर्षा से रक्षा के 5 साधन (i) कम्बलमय (ii) सूत्रमय (
(iii) तालपत्रसूची (ताड़पत्र की सुई का बना हुआ) (iv) पलाशपत्रकुटशीर्षक
(v) छत्र = बांस का। 5 g. के पर्दे (vi) सूत्रमय (ii) कर्णछिद्र (iii) वांकमय = बगुले
पंख से बना (iv) दंडमय (v) करकमय = चराई का। पर्दों का प्रमाण गच्छ की अपे
से। संथारे 2 (i) शुषिर (ii) अशुषिर, शुषिर = घास से बना। दं 5 g. (i) दंडक (
(कंधे जितना) (ii) विदंडक = बगल जितना (iii) याष्टि = शरीर जितनी (iv) विपष्टि =
शरीर से 4 अंगुल कम (v) नालिका = शरीर से 4 अंगुल ज्यादा।
मात्रक - 19. (i) भात्रु की कायिकमात्रक (ii) संज्ञामात्रक = कल्ले की (iii) खेलमात्रक
कफ वि. की पादलेखनिका = पैर से कीचड़ निकालने की पट्टी।

गा. 836 चर्ममात्रिक - 19. (i) वर्ध = चमड़े की डोरी (ii) नालिका = पैर में बांधने के लिए
(iii) कत्ति = आगे वि. भय में नीचे पाथर कर ऊपर खड़े रहे।
दोपट्ट = संथारा, उत्तरपट्टा।
इसके अलावा साध्वी को वारक = पानी रखने की बाल्टी जैसा। क्योंकि उन्हें
सदा बस्ती गाँव वि. में ही रहना होता है अतः शुद्धि के लिए पानी रखना पड़
है।

उत्कृष्ट औपग्राहिक उपधि
औधिक- औपग्राहिक उपधि के लक्षण
उपधि के लाभ
तप उपधान द्वार, तप की उपयोगिता, स्वरूप

गा:837 (उत्कृष्ट औपग्राहिक) (i) अग्र- स्थापनाचार्य के लिए (ii) अंधारा- नेतर की मोटी से बना हुआ। 2 प्र. एकांगिक= एक ही पाटिए से बना, अनेकांगिक= अनेक पाटिए से बना। 5 प्र. की पुस्तक- गंडिका, छिवाड़ी, कच्छपि, मुष्टि, संपुट। फलक= लिखने के लिए।

अव. औधिक और औपग्राहिक उपधि का विशेष लक्षण-

गा. 838 जो उपधि सामान्य से हमेशा रखे किन्तु कार्य उपस्थित होने पर वापरे, वह औधिक। जो कारण उपस्थित होने पर ही ले और कारण होने पर ही वापरे, वह औपग्राहिक।

अव. उपधि के लाभ/गुण -

गा. 839 राग से रहित साधुओं की दोनों प्रकार की उपधि अधिकरण से रक्षा का हेतु होने के कारण चारित्र की साधक होती है, यदि युक्ति से अर्थात् प्रमाणोपेत और जयणा से वापरे तो। अयुक्ति से वापरने में या ग्रहण करने में भारी दोष।

उपधि द्वार पूर्ण।

अव. तप विधान द्वार-

गा. 840 बुद्धिमान् साधु द्वारा सूत्र में कही विधि पूर्वक जिनवरचरित और मंगल तप विधान यानि उपधान करना चाहिए।

गा. 841 तीर्थंकर भगवंत चार ज्ञान वाले, देवों से पूजित, उसी जन्म में निश्चित मोक्ष वाले होने पर भी बल-वीर्य को छुपाए बिना अनशनादि तप में उद्यम करते हैं।

गा. 842 यदि तीर्थंकर उद्यम करते हैं तो अन्य जीवों द्वारा मनुष्य भव अत्यंत पाय होने पर दुःखक्षय के कारण से उद्यम क्यों नहीं किया जाए? अर्थात् करना ही चाहिए।

अव. तप की उपयोगिता -

गा. 843 इस लोक में तप उपधान व्रतरक्षक है, अवश्य रूप से प्रोक्ष फल वाली गुणों की वृद्धि तप से होती है।

अव. तप-उपधान का स्वरूप-

बाह्य-अभ्यंतर तप

बाह्य तप की उपयोगिता

गा.-४५५ - अनशनादि तप स्वाग्रह से रहित है, अहिंसा से रहित है और प्रासेवन काल
भी अनशनादि शुभ अनुबंध वाला होने से शुभ ध्यान से युक्त होता है।

अव.- बाह्य तप-

गा.-४५६ अणसण मूणोमरिआ... | अनशन (इत्वरादि रूप), अल्पाहारादि लक्षण
वाली ऊणोदरी, भिक्षा के गृह वि. का मानादि रूप वृत्ति संक्षेप, खड़े रहने वि.
से काय क्लेश, इंद्रिय और नोइंद्रिय (मन) की गुप्तता रूप संलीनता,
विगई त्याग रूप रसपरित्याग | सर्व लोक को जानने से बाह्य तप।

अव. अभ्यंतर तप -

गा.-४५६ पायच्छित्तं विणओ... | आलोचनादि प्रायश्चित्त, ज्ञानादि विषयक वि
आचार्यादि विषयक वैयावृत्त्य, वाचनादि लक्षण वाला स्वाध्याय, धर्मध्यान
ध्यान, कारण से गृहीत कुछ अशुद्ध आहार का अन्य त्याज्य होने पर त्याग
व्युत्सर्ग। ये सभी अभ्यंतर तप क्योंकि सभी लोक में प्रसिद्ध न होने से।

अव. कुछ लोग अनशनादि बाह्य तप को नहीं मानते हैं। अतः उन्हें बाह्य तप
का त्याज्य कहते हैं -

गा.-४५७ अनशनादि बिना शरीर इकट्ठे किए हुए मांस, खून आदि को छोड़ता नहीं है
अर्थात् पुष्टता जाती नहीं है, इसलिए व्रत के अर्थी को यह तप करना चा

अव. इकट्ठे किए हुए मांस-खून की पुष्टता के दोष -

गा.-४५८ पुष्ट मांस-खून वाले जीव को काम विषयक अशुभ प्रवृत्ति के प्रधान कारण रूप मोह
उदय वाला विशेष चित्त परिणाम होता है क्योंकि पुष्ट मांसादि निमित्त वि
रूप सहकारि कारण का योग है।

अव. कोई कहे कि विवेक के कारण मोह का उदय नहीं होगा। तो उसका जवा
देते हैं -

गा.-४५९ मोहोदय होने पर विवेकी जीव भी अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति रूप स्वकार्य न

कर सकता। तो विवेक-हीन जीव, जो अदीर्घदर्शी (सोचे बिना प्रवृत्ति करने वाला) और बाह्य तप नहीं करने वाला है, वह क्या साधेगा? अर्थात् कुछ नहीं।

गा. 850 इसलिए साधु को सदा सूत्रोक्त बाह्य तप भी करना चाहिए। बाह्य तप शरीर को ही पीड़ा करने वाला है, मन को नहीं। अतः ब्रह्मचर्य के पालन की तरह ये तप भी करना चाहिए।

गा. 851-64 ~~चर्चा और~~ बाह्य तप दुःख रूप है, कर्म के विपाक रूप है आदि-चर्चा और उपसंहार।

अव. विचार द्वार-

गा. 865 भावना ज्ञान की प्रधानता वाले बनकर अर्थपदों की सूक्ष्म युक्ति से विचारणा करना चाहिए और बहुश्रुत गुरु से जानकर ~~जिस~~ जिन अर्थपदों का जो अर्थ होता हो, वह अर्थ करना चाहिए, किन्तु स्वबुद्धि से नहीं करना चाहिए।

अव. जैसे- (विचारणा का दृष्टांत)-

गा. 866 ब्राह्मी, सुंदरी दि. को छोटे अतिचार का भी स्त्रीत्व आदि कटुफल मिले? छोटे अतिचार में भी बड़े फल कैसे संभव हैं? युक्ति से कैसे घटते हैं?

गा. 867 यदि छोटे अतिचार का बड़ा फल है तो आज के प्रमाद बहुल साधुओं का धर्माचरण मोक्ष का अंग कैसे है?

गा. 868 (अवाय =) कुष्ठादि का चिकित्सा करता रोगी यदि सूक्ष्म भी चिकित्सा से विरुद्ध वर्तन करे तो विपाक अति भयंकर होता है। वैसे ही...

~~गा. 869~~ अव. अतिचारों के क्षय के हेतु -

गा. 869 अतिचार वाले विशिष्ट अध्यवसाय से तुल्य या अधिक शुभ अध्यवसाय से वह अतिचार क्षीण होता है। किंतु मात्र आलोचना से नहीं क्योंकि इस प्रकार की भाव-शून्य आलोचना तो ब्राह्मी आदि ने भी की थी किंतु शुभ अध्यवसाय नहीं थे।

गा. 870 इस प्रकार प्रमत्त साधु के प्रत्येक अतिचार के तुल्य या शुभ अध्यवसाय का आसेवन होने पर अतिचार का क्षय होने से दोष नहीं है। इस प्रकार धर्माचरण शुद्ध होने से

PAGE NO.
DATE

प्रेम का अंग है।

भा. ४१। सम्यक् प्रकार से औषध-मंत्रादि द्वारा प्रतीकार किया हुआ बहुत विष भी मारत नहीं है किंतु जिसका प्रतीकार नहीं किया है ऐसा थोड़ा विष भी मारता है।

गा. ४१२ इसी प्रकार जो द्रव्य साधु अतिचारों में प्रमाद वाले, प्रतिकार रहित हैं, उनका धर्माचरण शुद्ध नहीं होता। जैसे- गलत तरीके से पकड़ा हुआ बाण स्वयं के हाथ को ही काट देता है, वैसे विराधना से युक्त साधुत्व नरक में ले जाता है' इस प्रकार के वचन से द्रव्य धर्माचरण अनिष्ट फल भी देता है।

गा. ४१३ इसलिए छोटे अतिचारों का सामान्य मनुष्य या तिर्यंच जाति में ही स्त्रीत्व, दारिद्र्य आदि रूप फल हैं। बड़े अतिचारों के नरक या क्लिष्ट तिर्यंच गति में बड़े अशुभ फल हैं।

अव. उपसंहार-

गा. ४१५ इस प्रकार से विचारणा होने पर हमेशा संवेग से चारित्र की पक्ष परिशुद्धि हो है। अन्यथा विचारणा बिना संमूर्च्छिम प्राणी समान जड़ता से प्रवृत्ति करना दीक्षा में भी दोष के लिए होती है। विचार द्वार पूर्ण।

अव. भावना द्वार-

गा. ४१६-७ इस प्रकार गुरुकुलवास में वर्तते साधु को कभी कर्म के दोष से स्त्री में राग हो तो अथवा स्त्री में राग न हो तो भी साधु का आचार होने से सूत्रानुस अकुशल परिणाम वाले हाथी के लिए अंकुश समान और विषय रूपी विष के लिए परमौषध रूप ये स्थान सम्यक् प्रकार से भावित करना चाहिए या विचारना चाहिए।

गा. ४११ श्मशानादि निर्जन देश में गीतार्थ साधु सहित, अकेले नहीं, ऐसे साधु द्वा सबसे पहले, सर्वत्र विश्वास को तोड़ने वाला ऐसा जीव लोक का अस्थिरत्व विचारने योग्य है। (अर्थात् अनित्य भावना)

गा.878 जीवन, यौवन, ऋद्धि-संपत्ति, प्रिय संयोग, आयुष्यत्वादि सभी अस्थिर हैं, जैसे-विषम और उग्र हवा की झपेट में आए हुए घास के अग्र भाग पर रहे जल बिंदु।

गा.879 शब्दादि विषय दुःखरूप, विषयवाले जीवों का सम्मोहन करने वाले हैं, चिंता-भ्रम और बहुत दुःख उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि विषय भोगने के बाद तुरंत ही चिंता-भ्रम-दुःख का अनुभव होता है। माया से किए गए इंद्रजाल समान तुच्छ और किंपाक फल की उपमा वाले हैं अर्थात् परिणाम से दुःखद हैं। और पाप रूप हैं।

गा.880 इसे विचारने के बाद स्त्री शरीर का निमित्त रुधिर है, ऐसा चिंतन करना। शरीर शुक्र और शोणित के मिश्रण से उत्पन्न होता है, उन दोनों में खून ज्यादा हो तो स्त्री शरीर उत्पन्न होता है, इसलिए ऊपर रुधिर शब्द साक्षात् लिखा है। स्त्री का शरीर दुर्गंधी मांस, खून, विष्ठा, कंकाल से पूर्ण है।

गा.881 स्त्री को सच्चे राग का अभाव होता है क्योंकि प्रायः स्त्री का प्रेम सच्चा नहीं होता, ऐसा प्रसिद्ध है। यदि राग सच्चा हो तो भी वह संध्या के बादल जैसा प्रकृति से ही अस्थिर होता है।

गा.882 स्त्री लोक में निंदनीय और परलोक के वैरी ऐसे सभी असत् आरंभों का कारण है, ऐसा प्रयत्न पूर्वक विचारे।

गा.883 प्रकृति से ही दुर्ग्राह्य ऐसी स्त्री के मन की दुर्ग्राह्यता को विचारे, उसका मन तो हवा, आग, साँप से भी ज्यादा दुर्ग्राह्य है।

गा.884 ज्ञानादि गुणों से विभूषित श्रेष्ठ पति के प्रति स्त्री की निरपेक्षता को विचारे, वह अतिमाया प्रधान होती है।

गा.885 वह मन से कुछ सोचती है, करती कुछ और है, वचन से कुछ और बोलती है, अन्य कार्य प्रारंभ करती है और प्रारब्ध कार्य छोड़ देती है। इस प्रकार वह सर्वथा माया प्रधान है।

भावना के लाभ और विधि

गा. 886 स्त्री स्वभाव से ही नीच गामी होती है क्योंकि वह अनुत्तम होती है तथा
नित्य सुख वाले मोक्ष पद के प्रापक सद्धयान की शत्रु है, इस प्रकार सोचो।
गा. 887 वह अति उग्र ऐसे परम संताप को उत्पन्न करने वाली नरक रूपी अग्नि की
हेतु है। उससे विरक्त साधु को इस जन्म में ही प्रशमादि की प्राप्ति रूप लाभ
होते हैं, इस प्रकार चिंतन करे।
गा. 888 तथा आगामी भव में भी स्त्री से विरक्त जीव को ~~भी~~ शारीरिक-मानसिक
रूप अनेक दुःखों के क्षय रूप और निरुपम सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती
अ. भ. भावना के लाभ -
गा. 889 इस प्रकार तत्त्व का चिंतन करते जीव शुद्ध व्यापार वाले जीव के क्लिष्ट अ
कर्म संवेग से नष्ट होते हैं। क्लिष्ट कर्म क्षय होने से चारित्र की विशुद्धि
होती है।
अ. भावना के चिंतन की विधि -
गा. 890 जो व्यक्ति स्त्री आदि के अत्यंत वाले रागादि रूप जिन दोषों से व्याप्त हो
है, उसे उसी रागादि के विपक्ष का चिंतन करना चाहिए।
गा. 891 किसी व्यक्ति को धन में राग उत्पन्न हो तो उसे धन के अर्जन, रक्षण और
क्षय में होने वाली चित्त की दुष्टता का चिंतन करना चाहिए। धर्म के लिए
धन इकट्ठा करने से भी अच्छा धन नहीं रखना चाहिए क्योंकि इतर धर्म में
भी कहा है - धार्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य
दूरादस्पर्शनं वरम्। धर्म के लिए जिसकी धनेच्छा है, उसे धन की अनिच्छा
ही श्रेष्ठ है, शरीर को कीचड़ से गंदा कर धोने से अच्छा तो शरीर को गंदा
ही न करे।
गा. 892 अचेतन विषयक द्वेष होने पर मैत्री भावना भाना चाहिए - तू सभी जीवों के ग
में अनेक बार रहा है, इस प्रकार सभी जीवों से माता वि. तेरे संबंध हैं।

मिट्टी के ढेले से गिरने वि.से अचेतन विषयक द्वेष हो तो कर्म विपाक का चिंतन और मोह होने पर बोध अनुसार चेतन-अचेतन के धर्म रूप वस्तु के स्वभाव का प्रणिधान पूर्वक चिंतन करे।

गा. 893 :: यहाँ व्रत का अधिकार होने से भावना का अधिकार कहा क्योंकि शब्दादि विषय ही व्रत के शत्रु है और विषयों का मुख्य स्थान स्त्री है अतः यहाँ स्त्री संबंधी उपदेश को विशेष से कहा।

अव. विपक्ष भावना के त्याग-

गा. 8945 जीव अशुभ भाव से कर्म बंध करता है अतः विपक्ष भावना से वह कर्म का क्षय करता है। भावना द्वार पूर्ण।

अव. विहार द्वार -

गा. 895 गुरु के उपदेश से चेतन-अचेतन में (सर्व पदार्थों में) राग रहित साधु संहनन आदि के औचित्य से शास्त्र में प्रसिद्ध भास कल्पादि विहार द्वारा सदा विचरे।

अव. प्र. सूत्र में भास कल्प विहार सिवाय अन्य कोई विहार है ही नहीं तो ऊपर की
गा. 896 गाथा में आदि शब्द क्यों लिखा? उ. क्योंकि उस प्रकार का कार्य उपस्थित होने पर न्यूनाधिक भी हो सकता है।

गा. 897 प्र. गुरु के विहार से उपस्थापित साधु (जिसकी अभी बड़ी दीक्षा हुई है) का विहार सिद्ध है तो यहाँ अलग वर्णन क्यों किया? उ. क्योंकि चारित्र में विघ्न रूप मोह को जितने के लिए विहार अवश्य करना चाहिए, यह कहने के लिए अलग से वर्णन किया है। जैसे-

गा. 898 गुर्वादि की संयम वृद्धि के लिए एक जगह पर बहुत काल तक नित्य वास भी करे किंतु यह नित्यवास द्रव्य से ही होता है। भाव = परमार्थ से यतना-प्रधान गीतार्थ साधु का कभी नित्य वास नहीं होता।

अव. नित्य वास की विधि-

नित्यवास की बाधा

यतिकथा द्वार

गा.९९९ कुछ साधुओं को कभी शास्त्रकल्प और चौमासे के चार महिने में यथासंभव गोचरभूमि और बहिर्भूमि बदलना चाहिए। यदि इतना शक्य न हो तो संथारे का परिवर्तन तो अवश्य करना चाहिए।

गा.१००० साधु को ऐसा करने पर यदि मोह का उदय हो तो द्रव्य से-काय से विहार अवश्य करना चाहिए।

गा.१०१ नव दीक्षित साधु को शुरु से ही स्वयं के क्षेत्र में रुचि न हो इसलिए और अभक्ति अपरिणत तथा विहार करने के स्वभाव वाले शिष्य के लिए यह विहार का वर्णन किया है। विहार द्वार पूर्ण।

अब- यतिकथा द्वार-

गा.१०२ स्वाध्यायादि से श्रांत साधु स्थिर-आसनादि विधि से साधुओं के संवेग को बढ़ाने वाली ऐसी और तीर्थंकर के कुल (परंपरा) के अनुरूप धर्म वाले महात्माओं की कथा करे। अथवा-

गा.१०३ जिनधर्म में सुस्थित ऐसे पूर्व महापुरुषों के चरित्रों को, भावसार रूप और विनय परिणति के अनुरूप चरित्रों को अन्य साधुओं को कहे।

गा.१०४ जैसे- दशार्णभद्र राजर्षि, सुदर्शनि सेठ, स्थूलभद्र, वज्रस्वामी आदि जिन्होंने गृहत्याग सफल किया है, ऐसे सुसाधु।

गा.१०५ दशार्णभद्रादि के निरतिचार चारित्र की हम अनुमोदना करते हैं-इस प्रकार संवेग की बहुलता से सभी योगों में कर्ममल दूर कर आत्मा को शुद्ध करना चाहिए।

अब- इस प्रकार करने से लाभ-

गा.१०६ इस प्रकार करने से आत्मा का स्थिरत्व होता है। मैं दशार्णभद्रादि के कुल वाला हूँ ऐसे बहुमान से उनके जैसा धर्माचरण होता है। यदि ऐसे निमित्त से भी अनुष्ठान हो तो कुशल ही है।

गा. 906 कथा सुनने से अन्य को भी स्थिरतादि होती है। उनसे से अन्य को, इस प्रकार शुभ परंपरा चलती है।

गा. 908 अ इस प्रकार संयम अनुसारी, चित्त के विघात से रहित होकर गुरु आदि के आसेवन से अचिंत्यचिंतामणिरूप चारित्र के परिणाम की रक्षा करे क्योंकि वह दुर्लभ है, यदि प्राप्त न हुआ हो तो प्राप्त करे। (द्वार गा. 628 पूर्ण) गा. 611 के द्वारपूर्ण

गा. 909 उपस्थापना करने पर अवश्य चारित्र नहीं होता क्योंकि अंगारमर्दकादि अभव्यों को द्रव्य से भी हो सकता है। फिर भी छद्मस्थ गुरु का प्रयत्न सफल है क्योंकि उन्होंने तो आज्ञा की आराधना की है।

अव. द्रव्य चारित्र की फलवत्ता कहते हैं - (उपस्थापना की)

गा. 910 उपस्थापना से छेदोपस्थाप्य चारित्र की प्राप्ति होती है इसलिए दशवैकालिक -दि के बाद तुरंत उपस्थापना का विधान।

गा. 911 गोपेंद्र वाचक, करोरक गणी वि. को उपस्थापना के समय चारित्र न होने पर भी बाद में गुरु-शुश्रूषा सेवा आदि से प्रगट हुआ।

गा. 912 यह चारित्र लेने पर ही निर्वाणफल साधक है क्योंकि ज्ञान दर्शन का यह फल रूप है।

गा. 913-14 चारित्र है उसका नाश होने पर निश्चय से ज्ञान-दर्शन का नाश।
व्यवहार से विकल्प - यदि अनंतानुबंधी कषाय का उदय हो तो नाश, यदि अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय हो तो ज्ञान-दर्शन स्थिर।

अव. चारित्र प्रधान निर्वाण का साधन है, ऐसा सिद्ध करने की चर्चा -

गा. 915-16 प्र. दर्शन ही निर्वाण का प्रधान साधन है क्योंकि चारित्र बिना मुक्ति होती है, दर्शन बिना नहीं, ऐसा सूत्र में कहा गया है।)

गा. 917-8 उ. जैसे एक दीनार से दो, दो से चार, इस प्रकार क्रमशः महान् संपत्ति की प्राप्ति होती है, वैसे दर्शन में अप्रयत से भावरूप में श्रावक - मुनि वि. चारित्रभावों की प्राप्ति होने से मोक्ष होता है, मात्र दर्शन से नहीं।

PAGE NO.
DATE

10 आश्चर्य

गा. 919 ग्रंथि भेद के बाद जब 2-9 पल्योपम जितनी कर्म स्थिति क्षय होती है तब देशविरति की प्राप्ति होती है। संख्याता सागरोपम कर्म होने पर सर्वविरति। संख्यात सागर कर्म होने पर उपशमश्रेणि और संख्यात सागर. कम होने पर क्षपकश्रेणि की प्राप्ति होती है।

गा. 920 इस प्रकार सम्यक्त्व नहीं गिरने पर देव-मनुष्य जन्मों में भटकते जीव को क्रमश इन भावों की प्राप्ति होती है। एक ही भव में दो श्रेणि की प्राप्ति नहीं होती। अग भव

गा. 921 इस प्रकार चारित्र के अभाव में मोक्ष नहीं होता किंतु सोपक्रम अंतकृत् केवली जैसे द्रव्य चारित्र का अभाव हो सकता है।

भव. अंतकृत् केवली में भी द्रव्य-चारित्र -

गा. 922 अंतकृत् केवली भी द्रव्य चारित्र पूर्वक ही मोक्ष में जाते हैं, पूर्व जन्म की अपेक्षा से।

गा. 923 क्योंकि अंतकृत्केवलित्व और चरमशरीरत्व अनेक भव के धर्माभ्यास से ही प्राप्त होते हैं। एक भव के अभ्यास से प्राप्त नहीं होते क्योंकि असत्प्रवृत्ति का हेतु मोह जीव के साथ अनादि के अभ्यास से दुर्विनय है इसलिए वह अल्प भवों जितने के लिए शक्य नहीं है।

गा. 924 प्र. तो मरुदेवी माता को चरमशरीरत्व कैसे प्राप्त हुआ।

गा. 925 उ. वह पूर्वाचार्यों द्वारा आश्चर्य रूप कहा गया है।

भव. 10 आश्चर्यों के नाम -

गा. 926-7 1. चरम तीर्थंकर को उपसर्ग 2. गर्भ हरण 3. स्त्री तीर्थंकर 4. अभव्य पर्षदा 5. कृष्ण का अपरकंका में गमन 6. चंद्र सूर्य का विमान के साथ अवतरण 7. हरिवंश कुलोत्पत्ति 8. चमरेंद्र का सौधर्म देवलोक गमन 9. समय में 108 सिद्ध 10. असंयत की पूजा - ये भाव अनंत काल में हुए।

गा. 928 प्र. इन आश्चर्यों में मरुदेवी माता तो आई नहीं?
उ. ये 10 मुख्य उपलक्षण हैं। उपलक्षण से अन्य आश्चर्य भी हो सकते हैं।

मरुदेवी माता का जीव वनस्पति काय से सीधा मनुष्य में आया और सिद्ध हुआ। ऐसा अनंत काल में ही होता है।

गा. 929 प्र. ऐसा सभी को क्यों नहीं होता? उ. क्योंकि वैसे भव्यत्व का अभाव है, इतर गुणों का योग नहीं है और उस प्रकार का काल भी नहीं है।

भव. उपसंहार-

गा. 930 इस प्रकार चारित्र ही निर्वाण का प्रधान साधन है, यह सिद्ध हुआ। चारित्र का प्राधान्य होने से ही गुरु-गच्छ सेवा आदि भी चारित्र के लिए ही है।

(C) व्रतस्थापना वस्तु पूर्ण।

भव. (D) अनुयोग-गणानुज्ञा द्वार-

गा. 931 इस प्रकार साधुओं की व्रतों में स्थापना संक्षेप से कही। अब अनुयोग-गण-अनुज्ञा सूत्रानुसार कहूंगा।

गा. 932 क्योंकि जिनेन्द्रों द्वारा व्रत से संपन्न और काल से उचित ग्रहण किए हैं सकल सूत्र-अर्थ जिन्होंने ऐसे साधु ही आचार्य की स्थापना के योग्य हैं, कहे गए हैं, अन्य नहीं।

भव. योग्यता रहित को अनुज्ञा देने से दोष-

गा. 933 (द्वार) 1. योग्यता रहित साधु को अनुज्ञा देते गुरु को मृषावाद 2. उस प्रकार का प्ररूपक होने से लोक में प्रवचन की निंदा 3. सन्नायक के अभाव से शेष साधुओं के गुणों की हानि 4. सम्यग्ज्ञानादि की अप्रवृत्ति होने से तीर्थ का उच्छेद।

गा. 934 1. अनुयोग यानि अर्थप्ररूपणा का व्याख्यान। इसकी अनुज्ञा- आपके द्वारा विधिपूर्वक अप्रमत्त होकर समवसरणादि सर्वत्र यह व्याख्यान सदा करने योग्य है (मन से नहीं, स्वेच्छा से नहीं किंतु विधिपूर्वक)।

गा. 935 यदि काल के उचित अनुयोग (ज्ञानादि का) शिष्य के पास न हो तो गुरु का

योग्यता रहित को अनुज्ञा देते गुरु को दोष

PAGE NO.
DATE

वचन मिथ्या हो, जिस जैसे- कोई दरिद्र पुत्र को कहे कि ये रत्न उसे दे, उसी प्रकार ज्ञानरहित साधु को अनुज्ञा वचन मिथ्या है।

भा. 936 अव. कोई कहे कि शिष्य थोड़ा भी पढ़ा हो तो अनुज्ञा देना चाहिए। ऐसी असत् प्रवृत्ति के निमित्त को दूर करने के लिए कहते हैं-

गा. 936 गुणों से महान् पुरुष तात्त्विक रीति से ऐसी स्थिति में 'थोड़ा पढ़ा है' ऐसा आत्मंभन नहीं लेते क्योंकि (i) घास के समान तुच्छ होने से यह आत्मंभन है नहीं (ii) ऐसे आत्मंभन से श्रावक में अतिव्याप्ति आएगी क्योंकि श्रावक भी थोड़ा तो पढ़ा हुआ है। इस प्रकार गुरु को मृषावाद होता है।

गा. 937 2. लोकनिंदा- अनुयोगी आचार्य लोगों के संशयों का अत्यंत नाशक होने से इसलिए लोग कुशल धर्म के ज्ञान के लिए उनके पास जाते हैं।

गा. 938 वह तो बिचारा अल्पश्रुत वाला हो, बंध-मोक्ष वि. तत्त्वों में एकांत से अकुश हो। तो इन लोगों को सूक्ष्म पद बंधादि विषयक क्या कहेगा?

गा. 939 तब इस असंबद्ध बोलने वाले आचार्य को देखकर विद्वानों को अवज्ञा होती है वे सोचते हैं- प्रवचन में यह प्रवचनधर आचार्य है, यह जिनशासन तो अस है क्योंकि यह आचार्य इन पदार्थों से अनभिज्ञ का जानकार होने पर भी ऐसा बोलता है।

गा. 940 3. अज्ञ आचार्य शिष्यों में ज्ञानादि गुणों की संसार को छेदने वाली ऐसी वृद्धि कैसे करे

गा. 941 क्योंकि तुच्छ व्यक्ति स्वयं के पास नहीं होने से गुण संपत्ति दूसरे को कैसे देगा अथवा हेय-उपादेय के विवेक से रहित देगा। यह अज्ञ आचार्य स्वयं के शिष्यों को अन्य बहुश्रुत आचार्य के पास नहीं पढ़ने देता है क्योंकि वह मिथ्याभिमान से सोचता है कि मैं भी आचार्य हूँ तो मेरे शिष्य दूसरे के पास क्यों पढ़े?

गा. 942 उसके शिष्य भी बहुत काल तक मूर्ख रहते हैं क्योंकि उन्हें विशिष्ट संपर्क का अभ होता है तथा शेष इनकी शिष्य परंपरा में भी गुण की हानि होती है।

गा.943 5. विशिष्ट ज्ञानादि का अभाव होने से त्योच, भिक्षादि सर्व अनुष्ठान अन्य धर्म वाले चरकादि जैसे निरर्थक है। क्योंकि जिनाज्ञा से विपर्यय है।

गा. 944 आगम से शून्य साधु द्वारा किए स्वप्रति के विकल्प से किए गए त्योच, भिक्षादि स्वर्ग-मोक्ष रूप फल नहीं देते किंतु आगमाक्ष नुसार कृत ही फल देते हैं जैसे- रोग चिकित्सा में वैद्य ही प्रमाण है, वैसे परलोक में आगम ही प्रमाण है।

गा. 945 अगीतार्थ गुरु से भिक्षादि फल वाले मात्र द्रव्य लिंग और अनर्थ की प्राप्ति होती है इसलिए परमार्थ से तीर्थोच्छेद जानना क्योंकि तीर्थ का फल ऐसे मोक्ष की प्राप्ति का अभाव है। (द्वार. गा. 933 पूर्ण)

गा. 946 अतः गुरु द्वारा काल के उचित सूत्रार्थ में तत्त्व जिसने जाना है ऐसा शिष्य ही एकांत से अनुज्ञा करने योग्य है। किंतु तत्त्व मात्र सुने हो, जाने न हो उसे नहीं क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर सू. म. ने सम्मति तर्क में कहा है कि-

गा 947 साधु जैसे-जैसे सुनने से बहुश्रुत बनता है, जैसे-जैसे मूढ़ शिष्यों का परिवार बढ़ता (विवेकी जीव ऐसे साधु के शिष्य नहीं बनते) वैसे-वैसे वह वस्तु स्थिति से सिद्धांत का विनाशक होता है क्योंकि वह सिद्धान्त की लघुता करता है।

गा. 948 सिद्धांत के रहस्यों को नहीं जानने वाला वह सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत, अतिशय प्रधान, गंभीर सिद्धांत को अपरिणत देशना से अन्य दर्शनीयों से भी हल्का करे।

गा. 949 तथा वह, अज्ञाततत्त्व, सभी जगह उत्सर्ग-अपवाद को जानने वाला नहीं होता इसलिए वह उत्सर्ग-अपवाद के अप्रयोग से अवश्य क्रूर वैद्य की तरह स्व-पर विनाशक होता है।

गा. 950 इसलिए अनुयोग धारी के परलोक में हित के लिए, शिष्यों के, अनुमोदकों के और आज्ञा की आराधना से स्वयं के हित के लिए धीर गुरु योग्य शिष्य को विधि अनुयोग की अनुज्ञा दे।

अव. अनुयोग अनुज्ञा की विधि-

अनुयोग अनुज्ञा विधि

PAGE NO.
DATE

तिथि

गा.951 संपूर्ण शुभ प्रशस्त होने पर विधि से गुरु को काल निवेदन करे। गुरु, स्थापनाचार्य
आसन योग्य भूमि पर पधारे।

गा.952 फिर वह वसति प्रवेदन करे। फिर गुरु आसन पर बैठ जाए, अन्य साधु नहीं। आगे शि
संभ्रांत रहित स्थिर चित्त यथाजात मुद्रा में खड़े रहे, रजोहरण-मुखवस्त्रिका धार
करे।

गा.953 मुहपत्ति-काया का पडिलेहन, गुरु वंदन (वांदणा) पूर्वक कहे 'संदिसह सज्झायं पडु
आप आज्ञा दो, हम स्वाध्याय शुरू करते हैं।

गा.954 'पडुवसु' गुरु द्वारा अनुज्ञा होने पर गुरु-शिष्य दोनों स्वाध्याय करे। गुरु आसन प
बैठ जाए, शिष्य स्वाध्याय का निवेदन करे।

गा.955 गुरु-शिष्य दोनों शास्त्रोक्त विधि से उपयोग पूर्वक अनुयोग पढ़वे। शिष्य वंदन कर
गुरु से अनुयोग की अनुज्ञा कराए।

गा.956 गुरु सूरिमंत्र से मुख को मंत्रित कर देव वंदन करे। गुरु खड़े होकर नवकार गिनकर
संपूर्ण नंदीसूत्र बोले।

गा.957 शुद्ध परिणाम वाला और मोक्षार्थी शिष्य खड़े-खड़े, मुहपत्ति कनिष्ठा उंगली
पकड़कर, मुँह ढंककर एकाग्रता से सुने।

गा.958-9 फिर गुरु बोले- मैं इस उपस्थित साधु को, स्ववुद्धि से नहीं किंतु पूर्वकालीन
ऋषियों के हाथ से व्याख्यान के अंग रूप द्रव्य गुण पर्याय से अनुयोग की
अनुज्ञा देता हूँ। शिष्य गुरु को वंदनकर 'संदिसह किं भणामि' आदि विधि
विधि प्रमाणे कहे।

गा.960 सामायिक विधि से जो यहाँ विशेष है, वह कहते हैं- शिष्य इच्छामो अणुसट्ठिं बोले
गुरु - सम्मं धारय अन्नेसिंतह पवेयह = तू इसे सम्यक् प्रकार से धारण कर और
अन्यों को 'अनुयोग वराबर कहना' ऐसा बोले।

गा.961 शिष्य द्वारा 3 प्रदक्षिणा करने पर गुरु बैठे। अनुज्ञा का काउसग्ग करे। फिर गुरु को 3

प्रदक्षिणा कर वंदन करे।

गा.962 गुरु के आसन पर ही गुरु के सीधे हाथ की ओर बैठे। गुरु उसे आचार्य परंपरा से आया हुआ और पुस्तकादि में न लिखा हुआ और सभी अर्थों का साधक ऐसा मंत्र पद (सूरि मंत्र) विधि पूर्वक उच्चार करे।

गा.963 गुरु मुँहबंधी अक्षों की 3 मुट्ठि उसे दे, पहली मुट्ठी से दूसरी और दूसरी से तीसरी में अक्ष ज्यादा होना चाहिए अर्थात् मुट्ठी वर्धमान् होना चाहिए। शिष्य उपयोग पूर्वक विधि से ग्रहण करे।

गा.964 इस प्रकार व्याख्यान के अंगरूप अक्ष देकर गुरु आसन से उठे। नूतन आचार्य शिष्य वहाँ बैठे। गुरु शेष साधुओं सहित शिष्य को वंदन करे।

गा.965 गुरु शिष्य को कहे- व्याख्यान करो, शिष्य वहीं बैठे-बैठे नंदी सूत्र का यथाशक्ति अथवा पर्षदा के अनुरूप अन्य भी व्याख्यान करे।

गा.966 शिष्य गुरु के आसन पर बैठे और गुरु शिष्य को वंदन करे, यह दोनों आचार्य समान गुण वाले हैं, ऐसा लोगों को बताने के लिए है, यह दोष नहीं है। यह तो जीत कल्प है।

गा.967 फिर साधु नूतन आचार्य को वंदन करे। शिष्य आसन परसे उठ जाए। गुरु आसन पर बैठे। फिर गुरु शिष्य (नूतन आचार्य) को उत्साहवर्धक प्रेरणा (उपबृंहणा) करे। अन्यमत में पहले उपबृंहणा फिर शिष्य का व्याख्यान।

गा.968 गुरु कहे- तू धन्य है, जिससे तेरे द्वारा सभी दुःख का नाश करने वाला जिनवचन सम्यक् रीति से जाना गया। यह हमेशा सम्यक् रीति से प्रयोग करने योग्य है।

गा.969 अन्यथा मुग्धशीलता से प्रयोग न करने पर यह परम ऋण समान है। जिनाज्ञा के अप्रयोग से असम्यक् प्रयोग ज्यादा पापी है। इसलिए यह तेरे द्वारा उपयोग पूर्वक प्रयोग करने योग्य है जिससे केवलज्ञान प्रगट हो।

गा.970 क्योंकि प्रयोग से अन्य प्राणियों का मोह दूर होता है और परोपकार होता है,

अर्थ वाचना के योग्य शिष्य

तथा प्रयोग करने वाले और प्रयोग लेने वाले दोनों को अतिशय संवेग होता
अतः जिनवचन प्रयोग केवलज्ञान का अवंध्य हेतु है।

गा.971 इस प्रकार उपबृंहणा कर उस आचार्य को अनुयोग की पूर देने के लिए कायोत्सर्ग करे, फिर कात्य का प्रतिक्रमण करे, फिर तप का निवेदन करे (पच्चक्खाण ले), फिर यथाशक्ति संघ की विधि (मर्यादा) समझाए।

गा.972 फिर वह अनुयोगी आचार्य प्रवचन कार्य में नित्य उद्यमशील होकर योग्य शिष्य का व्याख्यान (अर्थ वाचना) दे।

~~मू.~~ अव. अर्थ वाचना के योग्य शिष्य -

गा.973 1. प्रध्यस्य (सभी जगह भरकतदृष्टि), 2. पात्र (बुद्धि युक्त), 3. धर्मार्थी (परलोक से डरने वाले), सामान्य से ऐसा शिष्य सिद्धांतश्रवण के योग्य है। इसी प्रकार शास्त्रों व या काल को 4. पुंप्त, 5. परिणत आदि भी अंगचूलादि ग्रंथों के योग्य है।

गा.974 1. प्रध्यस्य जीव (i) तत्त्व के अवबोध में शत्रुरूप असद्ग्राह नहीं करते, (ii) मार्गानुसारी बुद्धि वाले होते हैं (iii) मायादि दोष से रहित शुद्ध आशय वाले होते हैं (iv) आसन्नभव्य होते हैं इसलिए उनमें प्रयत्न सफल होता है।

गा.975 2. बुद्धि युक्त पात्र वस्तु में रहे गुण-दोषों को (सूक्ष्म या बादर) जानकर विधि आदि स जगह सम्यक्त्व की कोटि से शुद्ध अर्थात् कष-छेद ताप से शुद्ध को तत्त्वस्थि से जानकर स्वीकारता है।

गा.976 3. जैसे यहाँ पद्म नामक वनस्पति कीचड़ से लिप्त न होने के कारण कीचड़ से अ कर सकते हैं इसी प्रकार धन्य ऐसे धर्मार्थी प्राणी अज्ञान रूप मोह से अत्यंत किए जा सकते हैं।

गा.977 4. प्राप्त को शास्त्र में कल्पिक कहते हैं, जो अर्थ आवश्यक सूत्र से लेकर सूयगड तक (दूसरा अंग) सूत्र से पढ़ा हो, वह अर्थ के लिए योग्य है।

गा.978-.5. जोनिशीथादि छेदसूत्रों में स्वयं के दीक्षा पर्याय बाद हो, भावभुक्त अर्थात् विशेष-

अन्तःकरण वाला हो, क्षिप्तधर्म= धर्म में तीव्ररुचि वाला हो, अवद्य=पाप से डरने वाला हो, उसे ही परिणामक जानने योग्य है क्योंकि वही उत्सर्ग-अपवाद के विषय को बराबर स्वीकारता है।

गा. 979 वह परिणामक उत्सर्ग-अपवाद के विषय विभाग को औचित्य से यथास्थित ही सम्यक् प्रकार से परिणमन करता है। वह जिस प्रकार है, उसी प्रकार हितकर मानता है इसलिए उसे यह व्याख्यान करना चाहिए क्योंकि उसे पढ़ाने से सम्यक् बोध आदि लाभ होते हैं।

गा. 980 अतिपरिणामक-अपरिणामक शिष्य में विचित्र कर्म के दोष से व्याख्यान अहित-कारी ही है, विपर्ययकर है, जैसे रोग की शुरुआत में औषध अहितकर होती है वैसे।

गा. 981 उन दोनों को व्याख्यान से विपर्यय योग के कारण अनर्थ होता है। इसलिए प्रतिमान् गुरु उन दोनों के हित के लिए अनुज्ञा न दें। अनर्थ के प्रतिघात से उनका हित होता है। इस प्रकार पूर्वगुरु कहते हैं।

गा. 982 कच्चे घड़े में डाला पानी घड़े का नाश करता है वैसे सिद्धान्त का रहस्य अयोग्य जीव का नाश करता है।

गा. 983 अतिपरिणामकादि से सुनने वालों का भी शुद्ध पुरुषार्थ नहीं होता है, मिथ्या प्ररूपणा से।

गा. 984 जीव अनादि से मिथ्याभिनिवेश वाला है, उसमें भी अतिपरिणामकादि की मिथ्या प्ररूपणा के सहकार से श्रोता को शुद्ध पुरुषार्थ नहीं होता। इसलिए उन शिष्यों के हित के लिए भी योग्य शिष्यों को विधिपूर्वक व्याख्यान करना चाहिए।

गा. 985 उपसंहार-गुणों से संपन्न शिष्य को पहले सूत्र फिर अर्थ विक्रम से, तोते जैसे नहीं किंतु स्वयं द्वारा अच्छे प्रकार से अर्थ का बोध करे, ऐसे वाचना दे।

अव. उपसंपदा की व्यवस्था-

गा. 986 पहले स्वयं के गुरु के पास जितना ज्ञान हो उतना ग्रहण करने के बाद, आगे

उपसंपदा की व्यवस्था

ग्रहण करने की शक्ति वाला हो तो गुरु द्वारा अनुज्ञा होने पर विवक्षित आचा
के पास जाए।

गा. 987 यदि गुरु के पास अपरिणत यानि नया ही परिवाहर हो, या गुरु अकेले हो तो
शिष्य गुरु से अनुज्ञा नहीं मांगे। वह आचार्य भी परिवारादि के अभाव में उस
शिष्य को न रखे, विसर्जन करे।

गा. 988 गुरु द्वारा आदेश होने पर गुरु द्वारा संदिष्ट आचार्य के पास जाय। वहाँ दोनो
की परस्पर परीक्षा होती है। यदि वहाँ साधु अमार्ग में उवृत्ति करते हो तो अगं
साधु उन्हें न करने की प्रेरणा करे, फिर वे न माने, मिच्छामि दुक्कडं न दे तो
उबार प्रेरणा करे, फिर भी न माने तो आचार्य को कहे। यदि आचार्य उसमे
सम्मत हो, तो वहाँ न रहे; असंमत हो तो वहाँ रहे। वे साधु भी आगंतुक साधु
की ऐसे ही परीक्षा करे।

गा. 989 गुरु उसे कठोन वचन कहे, ऐसा जीत कल्प है। स्वीकारने में शुद्धि होने पर गुरु के
पूर्वोक्त विधि से निवेदन करे - मैं इतना श्रुत इतने काल में पढूंगा, ऐसा
अरिहंत की साक्षी से नियम ग्रहण करे। अन्यथा- यहाँ कालगत भी करना
चाहिए। शिष्य को 'नत्थ बाहु वल्लिए' सिवाय सब कुछ समर्पण कर देना चाहिए,
गुरु द्वारा भी वह सम्यक् प्रकार से पालनीय है।

अव. पालन करने का प्रयोजन -

गा. 990 गुरु-शिष्य दोनों की निःसंगता होती है। तथा गुरु को पूजा होती है। यह जीत
कल्प, भगवान् ने देखा है। शुभाशय की उपपत्ति से श्रुतज्ञान शिष्य को पचि
तथा परिणामता है। परिणत श्रुत ही चारित्र शुद्धि का हेतु है। इसलिए शिष्य
को आत्मत्व का दान करना चाहिए। गुरु द्वारा भी लोभ से नहीं किंतु
अनुग्रह बुद्धि ग्रहण करना चाहिए।

अव. श्रुत का व्याख्यान कैसे करना -

PAGE NO. 97
DATE

गा.991 जैसे श्रोता को बोध हो, वैसे व्याख्यान करना। आगमिक वस्तु (~~आगम~~ श्रद्धा-गम्य) वस्तु को आगम से समझाए जैसे - स्वर्ग में देवी हैं, कुरु कुरु उत्तर में हैं' वि.। युक्ति गम्य वस्तु को युक्ति से समझाए जैसे - आत्मा देह-परिणामी

गा.992 क्योंकि निर्मल बुद्धि वाले पूर्वाचार्यों द्वारा आगम से (स्व मति से नहीं) हैं।
पदार्थ दोनों कहे गए हैं - श्रद्धा गम्य + युक्तिगम्य।

गा.993 जो युक्ति गम्य वस्तु में युक्ति से और आगमिक में आगम से पदार्थ समझाता है, वह भगवान् को अनुमत है। ~~आ~~ जो ~~युक्तिगम्य~~ श्रद्धा गम्य पदार्थ में भी भ्रांति को मोहने वाली युक्ति लगाता है, वह सिद्धांत का विराधक है क्योंकि वह सिद्धांत का लाघव करता है।

गा.994 इसलिए आगमिक पदार्थ आगम से और युक्तिगम्य पदार्थ युक्ति से समझाना चाहिए अन्यथा विराधना होती है।

गा.995-6-7 इसलिए आगम और युक्ति दोनों का उपयोग करने द्वारा, श्रोता को श्रुत में हेय बुद्धि पैदा हो ऐसे जैसे-तैसे नहीं किंतु गौरव पैदा हो वैसे, उत्तम दृष्टांत से युक्त, निश्चयादि अनेक नय के अर्थ से उपधान, ~~अ~~श्रोता को सर्वज्ञ पर श्रद्धा हो वैसे, तुच्छ ग्राम्योक्ति से नहीं किंतु गंभीर-सारभूत उक्ति से, श्रोता को भवभय संवेग हो वैसे व्याख्यान करे, अन्यथा नहीं।

गा.998-1000 अभी तो दुःषम काल है इसलिए विपरीत प्ररूपणा में दोष नहीं है, इस मान्यता का खंडन - क्योंकि किया हुआ पाप तो दुःषम काल में भी दुःख देता है इसलिए पाप नहीं करना चाहिए। दृष्टांत-चर्चा।

प्रश्न. व्याख्यान विधि -

गा.1001 (द्वार) 1. वाचना के स्थल को उपार्जना 2. गुर्वादि का आसन बिछाना 3. स्थापनाचार्य रखना 4. आचार्य को वंदन 5. अनुयोग के लिए काउस्सग्ग 6. ज्येष्ठ को वंदन। यहाँ जो वाचना दे वही ज्येष्ठ, दीक्षा पर्याय से नहीं।

★ स्थापनाचार्य बिना वाचना नहीं देना (गा.1002) - संप्रवसरणोपक्षण इतर।

श्रवण विधि और फल

गा.1002 1. स्थान प्रमार्जकर 2. दो आसन सुंदर-उचित कपड़े द्वारा बने हुए पाथरे, उसमें एक गु
1 के लिए, दूसरा उससे कुछ ऊँचा स्थापनाचार्य के लिए। यह संप्रवसरण का उपल
है, इसलिए स्थापनाचार्य बिना वाचना नहीं देना चाहिए।

गा.1003 यदि गुरु को थकावट की तकलीफ हो तो दो मात्रक गुरु के पास रखे -(i) कफ (ii) मात्रु
इसका भावार्थ यह है कि गुरु को यदि तकलीफ हो तो भी वाचना देना चाहिए।

गा.1004 4. फिर जितने साधु वाचना लें सभी ने उपयोग पूर्वक मुहपत्ति और काया का पडिलेह
कर एकसाथ गुरु को वंदन करे, अलग-अलग नहीं।

गा.1005 5. सभी अब्भुट्ठाण प्रारंभ करने के लिए काउसग्ग करे, काउसग्ग के बाद फिर गुरु को
6. वंदन करे। गुरु के अवग्रह को छोड़कर अति न नजीक नहीं, अति दूर नहीं बैठकर
उपयोग से गुरु वचन सुने। (द्वारगा.1001 पूर्ण)

अब. श्रवण विधि -

गा.1006-7 निद्रा-विकथा रहित, बाह्य चेष्टा से गुप्त होकर, हाथ जोड़कर, भक्ति बहुमान पूर्वक, उपयोग पूर्वक, अर्थ से प्रचुर और परलोक में हितकारी ऐसे गुरु वचन सुनने की इच्छा सहित, विनीत मुख वाले, सुंदर अर्थ की उपलब्धि से हर्षित, शेष सब छोड़ होने से रोमांचित शिष्यों द्वारा गुरु की वाचना सुनी जाना चाहिए।

अब. इसका फल -

गा.1008 गुरु को संतोष होने से और गुरु भक्ति (उपचार, बाह्य) तथा विनय (आवश्यक से विचित्र ऐसे ईप्सित सूत्र और अर्थ का पार जल्दी शीघ्र प्राप्त होता है, इस विधि से ही कर्मक्षय भी होता है।

गा.1009 वाचना समाप्ति होने पर मात्रु, गुरु विश्रामणा आदि को योग कर अर्थात् गुरु के लिए इनकी व्यवस्था कर, फिर वाचनादाता ज्येष्ठ (पर्याय से नहीं, ज्ञान से) को वंदन करे। अन्य मत - वाचना के प्रारंभ में ही ज्येष्ठ को भी वंदन करे।

गा.1010-11 प्र. यदि पर्याय वृद्ध कर्म दोष से सूत्र-अर्थ को धारण करने में विकल्प है, तो आप

वाचना के समय ज्येष्ठ, बहुश्रुत धीर को भी-
-वंदन करे → चर्चा, व्याख्यान योग्य ग्रंथ

लब्धि से हीन है, तो उसे वंदन करना निरर्थक है। उ.2 यदि वय और पर्याय में थोड़ा साधु भी व्याख्यान से ज्येष्ठ है तो रत्नाधिक उसे वंदन करेंगे तो आशातना नहीं लगेगी।

गा. 1012-3 उ.1-2 यहाँ वय और पर्याय से थोड़ा भी सूत्र-अर्थ धारण में पटु, दक्ष, व्याख्यान की लब्धि वाला जो है, वही ज्येष्ठ माना जाता है। जिन वचन को बोलने वाला होने से वह उसे आशातना भी नहीं होती क्योंकि वंदन रत्नाधिक को होता है और ज्ञान से वह रत्नाधिक है।

गा. 1014 निश्चय नय से वय और पर्याय प्रमाण नहीं है, व्यवहार से वह योग्य है। दोनों नय से संमत सभी जगह प्रमाण है।

गा. 1015 निश्चय से कौन सा श्रमण किस भाव में वर्तता है, वह जानना मुश्किल है इसलिए वंदन व्यवहार बंध ही हो जाएगा। अतः व्यवहार से जो पहले चारित्र में आया उसे वंदन किए जाते हैं।

गा. 1016 व्यवहार भी बलवान् है क्योंकि केवली भ. भी जब तक अनभिज्ञ होते हैं तब तक छद्मस्थ गुरु को वंदन करते हैं।

गा. 1017 'ज्येष्ठ को ही वंदन करना चाहिए' ऐसा सूत्र होने से सूत्र की आशातना में अन्य दोष होने से ज्येष्ठ को वंदन करना चाहिए, अन्य को नहीं।

भव. किन ग्रंथों का व्याख्यान करे-

गा. 1018 उन के द्वारा संवेग कारी, सुप्रशस्त जिनवचन ही व्याख्यान करने योग्य है, अन्य नहीं। जिस-जिस काल में जितने ग्रंथ भावार्थ सार वाले हो, उनका व्याख्यान करे।

गा. 1019 अथवा शिष्य को विशेष योग्य जानकर दृष्टिवाद भी पढ़ाने योग्य है। अथवा योग्य अनुयोगी ही दृष्टिवादादि में से उद्धृत नंदी वि. अन्य को देते हैं।

उद्धृत का लक्षण-

गा. 1020 जिसमें कम-ज्यादा नाप से शुद्ध, निर्दोष दोष से रहित पारमार्थिक धर्म का वर्णन

कषादि से धर्म की परीक्षा

धर्म के फल स्वरूप सम्यक्त्वादि

सम्यक्त्व का स्वरूप

किया जाता है, वे स्तव परिज्ञा वि. उत्तम ग्रंथ उद्धृत समझना।

अब. कषादि का स्वरूप –

गा. 1021 सकल लोक को संमत ऐसे प्राणवधादि का पापस्थानों का जैनशास्त्र में जो प्रति और ध्यान-अध्ययनादि की जो विधि, उसमें ही यह धर्मकष है, अर्थात् वह शास्त्र (उक्त स्वरूप से) जिसमें विधि-निषेध का वर्णन है वह कष से शुद्ध है।

गा. 1022 विधि-निषेध को बाध नहीं हो और निरतिचार पालन हो सके वैसे बाह्य अनुष्ठानों का उपदेश यह धर्म छेद है।

गा. 1023 जीवादि पदार्थों का ऐसा वर्णन हो जो वास्तविक रूप में घट सके, ऐसा व जिस शास्त्र में हो, वह ताप से शुद्ध कहलाता है। इन कषादि से परिशुद्ध श्रुतानुष्ठान रूप धर्म सम्यग् होता है।

गा. 1024 इन कषादि से जो धर्म शुद्ध न हो अथवा तीन में से किसी एक से भी जो बराब न हो, वह धर्म स्वयं के फल को अवश्य नहीं साध सकता।

गा. 1025-6 धर्म उत्तम पुरुषार्थ है। इसलिए धर्म में ठगा हुआ सभी कल्याणों में ठगाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जो धर्म में नहीं ठगाता वह कहीं भी नहीं ठगाता इसलिए निपुण बुद्धि से श्रुतादि धर्म की परीक्षा करना चाहिए।

गा. 1027 यहाँ शुभ अनुबंध वाले देव-मनुष्य के विचित्र सुख ही कल्याण है।

गा. 1028 सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है। वह स्वरूप से भूत अर्थ = तत्त्व अर्थों की श्रद्धा रूप और प्रशमादि लिंगों से गम्य है। शुभात्म परिणाम रूप है।

गा. 1029 वह सम्यक्त्व होने पर जीव शुद्धाशय वाला होता है, परमार्थ से धर्म में प्रवृत्त होता है और शुभ अनुबंध वाला होता है।

गा. 1030 भूतार्थ जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा रूप सम्यक्त्व तत्त्वों को कहने वाले आगम होता है।

गा. 1031 एकांत से अपौरुषेय वचन विश्वसनीय नहीं है क्योंकि पुरुष के आधार के

सभाव में वचन होता नहीं है। जो वचन सभी दोषों से रहित नहीं है, वह जीवादि तत्त्वों का प्ररूपक नहीं होता। इसलिए आगम सर्व दोषों से रहित होने से श्रुत धर्म है।

गा.1032-47 जीव को पूर्व में आगम अनंत बार प्राप्त हुए हैं तो भी सम्यक्त्व प्राप्त क्यों नहीं हुआ? क्योंकि जीव को श्रुत धर्म प्राप्त तो हुआ परंतु जीव ने वीर्य को उल्लसित नहीं किया। चर्चा।

अब. पाँच समवाय कारण -

गा.1048 प्रतिष्ठित यश वाले, दुःषमा काल रूप रात्रि में सूर्य समान होने से दिवाकर विरुद वाले श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि ने सम्मति तर्क में कहा है -

गा.1049 काल स्वभाव नियति पूर्वकृत (कर्म) पुरुष (पुरुषार्थ) - जो इन्हें अलग-अलग कारण मानता है, बहुत से मिथ्यात्व हैं; जो समस्त एकसाथ मानता है, वह सम्यक्त्व है; क्योंकि सभी साथ में होने पर ही कार्य करते हैं।

गा.1050 पूर्वाचार्यों द्वारा सभी कालादि समुदाय से ही परस्पर की अपेक्षा से साधक कहे गए हैं, अन्यथा साधकत्व का अयोग होता है।

गा.1051 केवल मात्र कालादि से कोई कार्य नहीं होता इसलिए समुदित कालादि ही सभी कार्य के हेतु हैं।

गा.1052-61 5 समवाय कारणों की सम्यक्त्व प्राप्ति में चर्चा।

गा.1062 वीर्योल्लास से जीव को द्रव्य सम्यक्त्व, उससे भाव सम्यक्त्व, उससे चारित्र, उससे केवलज्ञान की प्राप्ति, फिर सिद्धि।

अब. द्रव्य सम्यक्त्व - भाव सम्यक्त्व का स्वरूप -

गा.1063 जिनवचन ही तत्त्व है, अन्य नहीं इस प्रकार की सच्ची द्रव्य सम्यक्त्व होती है। यथावस्थित वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान से, श्रद्धा से परिशुद्ध ऐसा स्व-कार्य को करने वाला भाव सम्यक्त्व, नैश्चयिक सम्यक्त्व होता है।

कषादि का स्वरूप (विशेष से)

गा.1064 थोड़े गुण जानने पर भणि वि. में जो उपादेय विषयक श्रद्धा होती है, उससे अनं
गुण श्रद्धा सभी गुण जानने पर होती है।

गा.1065 इसी प्रकार भावसम्यक्त्व प्रशमादि लिंग को उत्पन्न करने वाला अवश्य ऐसा
होता है, अन्य नहीं।

गा.1066 ऐसे सम्यक्त्व से तीव्र शुभभाव होता है, शुभ भाव से परिशुद्ध निष्कलंक चारित्र
होता है, चारित्र से दुःख का मोक्ष होता है।

अव. शसंगिक कहकर प्रस्तुत में जोड़ते हैं-

गा.1067 इसलिए चारित्रधर्म की अवस्था करने वाले श्रुतधर्म को कषादि से परीक्षा करन
चाहिए।

अव. कष के स्वरूप को उदाहरण सहित कहते हैं-

गा.1068 जिस शास्त्र में सूक्ष्म भी पाप का निषेध हो और रागादि के नाश में समर्थ
ध्यानादि की विधि हो, वह शास्त्र कष से शुद्ध है।

गा.1069 व्या. मन-वचन-काया से पर जीव को जरा भी पीड़ा नहीं करना चाहिए तथा
रागादि के विपक्ष का उचित रीति से ध्यान करना चाहिए।

गा.1070 व्यतिरेक- जिस शास्त्र में सभी पाप का निषेध न हो तथा रागादि के नाश के
लिए ध्यानादि न हो, वह कष से अशुद्ध है।

गा.1071 व्या. इतर धर्म में कहा जाता है कि एकेन्द्रिय जीव के शरीर से जब तक एक बैल
गाड़ी न भराए तब तक एक ही हिंसा होती है। यदि विसंवाद हो तो ही मृष
वाद वास्तविक होता है। प्रकारादि का ध्यान करना चाहिए।

अव. छेद के स्वरूप को उदाहरण सहित -

गा.1072 अनेक प्रकार के संयम योगों में साधु की प्रशस्तता से वृत्ति, यह बाह्य
अनुष्ठान है।

गा.1073 इस अनुष्ठान से विधि-निषेध की बाधा नहीं होती है और वृद्धि होती है, अत

ऐसी प्ररूपणा जिस शास्त्र में हो वह वेद से शुद्ध है।

गा. 1074 यु. जैसे साधु द्वारा ईसमिति और उगुप्ति में अप्रमत्त होकर सभी अनुष्ठान किए जाने चाहिए, दूसरे तो दूर, मात्रु भी ऐसे ही करना चाहिए।

गा. 1075 जो वसति, स्थान इ. प्रमाद के जनक हैं, वे सर्वथा वर्जन करने चाहिए। तथा स्वयं का पालन गृहस्थ रूपी कुसुम को पीड़ा करने के परिहार से मधुकर वृत्ति से करना चाहिए।

गा. 1076 व्यतिकर- जिस शास्त्र में प्रमाद से अनेक प्रकार की संयम योगों में उस प्रकार की साधु की वृत्ति न हो, वह अनुष्ठान नहीं है क्योंकि वह कार्य का असाधक है।

गा. 1077 इस अनुष्ठान से विधि-निषेध का बाध होने से, यह शास्त्र वेद से अशुद्ध है।

गा. 1078 यु. इनैर धर्म में कहा है- साधु को देव को खुश करने के लिए संगीतादि का उद्यम करना। कंदर्प करना। मैं ब्राह्मण घाती हूँ' ऐसे असभ्य वचन बोलना। ऐसे बोलने से वेदनीय कर्म का क्षय होता है।

गा. 1079 अन्य धर्मी का विनाश करना। गृहस्थ पर अनुग्रह के लिए घर में ही एक अन्न खाना। प्रकृष्ट इंद्रिय जय के लिए तलवार की धार पर चलना। ये सब पाप के हेतु होने से पापानुष्ठान है।

अव. ताप के स्वरूप को सोदाहरण-

गा. 1080 जिस शास्त्र में जीवादि भाव वाद दृष्ट-इष्ट से विरुद्ध न हो, युक्त हो तथा निरूपचरित बंध-मोक्षादि का साधक हो, वह ताप से शुद्ध।

गा. 1081 जो ताप से शुद्ध शास्त्र है, वह कषादि से भी शुद्ध है। तो ताप से अशुद्ध से, वह कष-छेद से परमार्थ से अशुद्ध है।

गा. 1082 यु. अनुभव कराते सुखादि स्वरूप से सत् तथा पररूप से असत् जीवादि में, और द्रव्य-वर्याय-अभिधेय-परिणामादि की उपेक्षा से नित्य-अनित्य आदि

तप शुद्धि में ~~जीव~~ स्याद्वाद की चर्चा

अनेक धर्म वाले जीवादि पदार्थ में घटते हैं, अन्यथा अवस्थ नहीं घटेंग

गा. 1083 स्व से सत् जीवादि पर रूप से असत् भी होते हैं। स्वसत्त्व ही अन्य असत्त्व है,
ऐसा नहीं होता बल्कि जीव में दोनों अलग-अलग स्वभाव से ही होते
दोनों को अलग-अलग सिद्ध करने की चर्चा। सत्त्व अन्यासत्त्व से वि

गा. 1084 है अन्यथा यदि जीवादि पदार्थ में सत्त्व या असत्त्व एक ही माना तो विशिष्ट होत
सुखादि आत्म धर्मों नहीं। चर्चा

गा. 1085 यदि नित्य एक ही स्वभाव हो तो दुःख नाश के प्रयत्न क्यों करते हैं?

गा. 1086 यदि एकांत नित्य हो तो सुख भी प्राप्त होने के बाद क्षण में ही नष्ट हो
जाएगा। ऐसे नश्वर सुख के लिए प्रयत्न क्यों?

गा. 1087 एकांत भेद या अभेद, नित्य या अनित्य में घटादि कार्य की उत्पत्ति नहीं घट
क्योंकि विशिष्ट कारण स्वयं के स्वभाव का त्याग नहीं करता। चर्चा।

गा. 1088 दोनों पक्ष के दृष्टांत

गा. 1089 इसलिए सत्-असत्, नित्यानित्य रूप आत्मा ही मिथ्यात्वादि कारणों से
कर्म बांधता है और सम्यक्त्वादि से कर्म छोड़ता है क्योंकि वह परिणामी

गा. 1090 इसलिए आत्मा स्वकृत कर्म को भोगता है, परिणामी होने से। चर्चा

गा. 1091-2 दृष्टांत।

गा. 1093-4 दार्ष्टान्तिक।

गा. 1095-6 इसी प्रकार जीव-शरीर का भी कथंचित् भेद है, कथञ्चिद् अभेद है क्योंकि
इस प्रकार का अनुभव होता है। शरीर मूर्त और आत्मा अमूर्त है, यदि दोनों सर्व
भिन्न हो तो योग कैसे हो? उत्पत्ति नहीं होगा। अतः दोनों कथञ्चित् अभिन्न है
चर्चा।

गा. 1097-1104 भेद-अभेद और जात्यंतर भेदाभेद की चर्चा।

गा. 1105-8 मोक्ष की उपपत्ति।

गा. 1109 इस प्रकार का पदार्थवाद जिस आगम में हो, वह तप से शुद्ध है। वही आगम

धीर पुरुष - प्राज्ञ पुरुष द्वारा उपादेय है।

अव. गा. 1020 में कहे स्तव परिज्ञा आदि ग्रंथ कहते हैं -

गा. 1110 उत्तमश्रुत कहने से स्तवपरिज्ञा आदि प्रामृत विशेष ग्रहण किए जाते हैं।
जिस ग्रंथपद्धति में दोनों प्रकार का स्तव (द्रव्य-भाव) गुणों की प्रधानता से वर्णन किया जाता है, उसे स्तवपरिज्ञा कहते हैं।

अव. द्रव्य और भाव रूप स्तव -

गा. 1111 द्रव्य स्तव = भाव स्तव के राग से नि जिनभवन - जिनबिंब निर्माण, पूजादि।
भाव स्तव = शुद्ध निरतिचार साधु क्रिया।

अव. जिनभवन निर्माण की विधि -

गा. 1112 (द्वार) 1. शुद्ध भूमि पर 2. शुद्ध दल काष्ठादि से 3. भृतकों को ठगे बिना 4. स्वयं के शुभ भाव-आशय की वृद्धि कर भवन निर्माण करवाना।

गा. 1113 1. भूमिशुद्धि - द्रव्य से तपस्वी जन के उचित प्रदेश और कील, हड्डी वि. से रहित प्रदेश। भाव से आसपास रहने वाले जीवों को अप्रीति न हो।

गा. 1114 धर्म के लिए उद्यत ऐसे प्राणी द्वारा किसी भी जीव को सर्वथा अप्रीति करने योग्य नहीं है। इस प्रकार दूसरे को अप्रीति नहीं करने पूर्वक ही संयम भी कल्याणकर होता है, अन्यथा नहीं। यहाँ स्वयं भगवान् महावीर स्वामी उदाहरण है।

गा. 1115 वे प्रभु भी काका - मित्र - कुलपति संबंधी तापसाश्रम से, उन तापसों की अप्रीति को मनःपर्यव ज्ञान से जानकर अकाल ऐसे चौमासे में भी चले गए थे वह अप्रीति गुण को द्वेष होने से प्रधान अवधि कालीन थी।

गा. 1116 इस प्रकार सभी परलोकार्थी जीवों द्वारा हमेशा अन्य जीवों को अप्रीति अवश्य नहीं करना चाहिए। अशक्य होने पर स्वयं के दोष का ही चिन्तन करना चाहिए कि यह मेरा ही दोष है। शक्य हो तो

गा.1117 2. दत्त (काष्ठादि) शुद्धि - वे काष्ठादि दत्त शुद्ध हैं जो (i) देवाधिष्ठित उपवन, श्मशानादि
न लाए हो (ii) बैल वि. को मारकर (कष्ट देकर) न लाए हो (iii) ईंटादि स्वयं न बनवाई हो

अब दत्त शुद्धि जानने के उपाय -

गा.1118 दत्त खरीदने की बात चल रही हो, तब जो शुकन या अपशुकन हो, उससे दत्तशुद्धि-अ
चलती है। उसमें नंदी वि. शंख शुकन और अन्य अपशुकन हैं।

गा.1119 नंदी वि. वाजिंत्र के शुभ - आनंदकारी शब्द, पानी से भरे सुंदर कलश, धर्मचारी पुर
मेषादि राशि के शुभ लग्न - योग आदि शुभ शकुन हैं। आक्रंदन की आवाज वि.
अपशकुन है।

गा.1120 शुद्ध काष्ठादि को खरीदने के बाद शुद्ध वि. शुभ मुहूर्त में उन्हें अन्य जगह ले
जाने में भी शकुन देखना चाहिए।

गा.1121 3. जिनभवन कराने में कर्मकरों को ठगना नहीं चाहिए बल्कि अधिक दान करना
चाहिए। यह अधिक दान इसलोक और परलोक में सुंदर फलदाता है।

गा.1122 इसलोक का फल - वे भृतक तो तुच्छ होते हैं, अतः तुच्छ स्वभाव से अधिक
दान देने से अधिक तुष्ट होते हैं। अधिक तुष्ट होकर वे काम पहले से प्रथि
करते हैं।
गा.1123 परलोक फल - अधिक दान से तुष्ट कर्मकर धर्म की प्रशंसा करते हैं। धर्म प्रशंसा से
कितने भृतक तो बोधिबीज की प्राप्ति करते हैं, कुछ भृतक जो लघुकर्मी होते हैं, वे
उदारता के पक्षपात से मार्ग (जैन धर्म) को ही स्वीकार लेते हैं।

गा.1124 लोक में भी यह धर्म अकृपणता से शोभित है तथा सभी जगह दया की
प्रवृत्ति से उत्तम पुरुष द्वारा प्रणीत है ऐसी धर्म प्रभावना होती है।

गा.1125 4. जिनेन्द्र के ये भक्तसमुद्र में डूबे जीवों के आलंबन हैं ऐसे गुणों के ज्ञान से तथा जिन-
बिंब की प्रतिष्ठा के स्थिर शुद्ध प्रवृत्ति से अवश्य स्वाशय वृद्धि होती है। अर्थात्
स्वाशय वृद्धि के दो कारण - (i) जिनेन्द्र प्रभु के गुण का ज्ञान (ii) शुद्ध प्रवृत्ति।

गा.1126 में जिनमंदिर में आए हुए मोक्षसाधक, कृतपुण्य, गुणरत्ननिधि समान, महासत्त्वशा

जिन बिंब निर्माण तथा प्रतिष्ठा विधि

PAGE NO. 107
DATE

साधुओं को न देखूँगा।

गा. 1127 अन्य भी लघुकर्मी भव्य जीव जिनभवन में अकलंक, मोह रूपी तिमिर के अपगम में हेतु रूप ऐसे जिनबिंब को देखकर प्रतिबोध पाते हैं और संयम रूप धर्म का सेवन करते हैं।

गा. 1128 इसलिए जो जिनमंदिर में बपराता है, वही वास्तविक धन है। इस प्रकार अविच्छिन्न लगातार शुभ चिंतन होने पर स्वाशय की वृद्धि होती है। यह चिंतन मोक्ष फल वाला है। (द्वार गा. 1112 पूर्ण)

अब. यह संक्षेप से जिनभवन बनाने की विधि कही। अब इसके आगे के कर्तव्य

गा. 1129 परिणत पानी की ग्रहणादि रूप यतना से सुंदर जिनमंदिर बनाकर भवन में विधि पूर्वक निर्मित भगवान् के बिंब की विधि से अकुत्यता बिना प्रतिष्ठा करे।

अब. जिनबिंब निर्माण विधि-

गा. 1130 शुभ काल में कपड़े-चंदनादि से शिल्पी की पूजा कर, पाप रहित (व्यसन रहित) शिल्पी का गौरव हो इस प्रकार स्वयं के वैभव के उचित शुभ मन के भावों से मूल्य का अर्पण करे। अथवा

गा. 1131 निर्दोष (व्यसन रहित) शिल्पी न होने पर व्यसन सहित शिल्पी के अनर्थ को निवारण करने की भावना से, जो काल के उचित द्रव्यादि बिंब का मूल्य हो, उसे निर्धारण करे। मूल्य में वह दूसरे को (शिल्पी को) और स्वयं को ठगे नहीं।

अब. जिन बिंब प्रतिष्ठा विधि-

गा. 1132 निष्पन्न ऐसे जिनबिंब की शुद्ध भाव की वृद्धि से प्रतिष्ठा करने की विधि- जहाँ प्रतिष्ठा करना हो वहाँ शुभ योग में वैभव के अनुसार पूजा सहित अधिवासना करे। (अधिवासना = जगह की शुद्धि रूप)

संघ एवं संघपूजन का महत्त्व

जिन पूजा

गा.1133 चैत्यवंदन करे, वर्धमान स्तुति बोले, शासन देवता, श्रुतदेवता का काउस्सग्ग करे, काउस्सग्ग में लोगस्स का स्मरण करे, जाई वि. पुष्पों से पूजा करे, उचित समय होने पर नवकार पूर्वक प्रतिष्ठा करे।

गा.1134 फिर ~~सम्पत्ति~~ शक्ति के उचित संघ पूजा करे क्योंकि धर्माचार्य आदि की पूजा से संघ पूजा आधिक फलवाली है, विषय महान् होने से। क्योंकि आगम में कहा गया है कि तीर्थंकर के बाद तीर्थ (संघ), फिर आचार्यादि महान् हैं।

गा.1135 अनेक प्राणि में रहे सम्यग्दर्शनादि गुण स्वरूप होने से संघ गुणों का समुदाय है। पुत्तचन, तीर्थ वि. शब्द एकार्थक है। तीर्थंकर भी 'नमो तित्थस्स' कहकर तीर्थ को नमन करते हैं।

गा.1136 तीर्थ की महानता के अन्य कारण। तीर्थंकर तीर्थ को नमन करते हैं, उसमें तीर्थंकर नामकर्म मुख्य कारण है।

गा.1137 संघकी पूजा करने पर अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी पूजा न हुई। क्योंकि लोक में सभी जगह संघ से अन्य कोई गुणस्थानक पूज्य नहीं है।

गा.1138 संघ की महानता में ही उदाहरण।

गा.1139 प्रतिष्ठा के बाद श्रावक वैभव और काल के उचित शुचित्वादि विधान से भोजनादि जैसे नित्य, रोज जिनेन्द्र प्रतिमा की पूजा करे।

अब- जिन पूजा का विधान-

गा.1140 स्नानादि से पवित्र होकर, सिर वि. अंगों को स्पर्शे बिना सुगंधी पुष्पादि उच्च वस्तुओं से जो पूजा करता है, उसी पूजा में उपयुक्त हो।

गा.1141 प्रथम शुभ गंध वाले धूप से धुप्त और सर्वौषधि से मिश्रित पानी से अभिषेक करे। फिर कुंकुमादि का विलेपन। फिर सुरभि गंध वाले तथा मनोहारी मालाओं के समूह को चढ़ाए।

गा. 1142 भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यबंध उछाए। आरती करे। धूप करे। स्तुति करे। शांति से विधि पूर्वक चैत्यवंदन करे। यथाशक्ति संगीत, वाजिंत्र, दानादि करे। आदि शब्द से उचित स्मरण (प्रभु की अवस्थादि) करे।

गा. 1143 'यह विहित अनुष्ठान है' इस प्रकार मन में अवधारण जो सदा करता है, उसे यही चारित्र का हेतु रूप बनता है। यदि इहलोक, कीर्ति वि. की अपेक्षा से करे तो नहीं।

गा. 1144-45 इस विधि से पूजा करते जीव को आज्ञा की आराधना होने से भाव स्तव में अवश्य राग होता है। भाव स्तव के राग से ही यह अनुष्ठान द्रव्य रूप बनता है (गा. 1141)। यदि विधि से न करे, विपरीत अनुष्ठान करे तो उत्सूत्र होने से द्रव्य स्तव भी नहीं होता।

गा. 1145-6 यदि विपरीत अनुष्ठान को द्रव्यस्तव माने तो होने वाले दोष-चर्चा।

गा. 1147 जो अनुष्ठान औचित्य के अन्वेषणादि से शून्य है और एकांत से ही भाव शून्य है, वह आज्ञा से निरपेक्ष होने से वीतराग विषयक होने पर भी द्रव्य स्तव नहीं है क्योंकि वह भावस्तव का कारण नहीं है। यह अप्रधान द्रव्य स्तव है।

गा. 1148 द्रव्य स्तव से सांसारिक भोगादि रूप फल प्राप्त होते हैं। किंतु ये फल तो तुच्छ हैं क्योंकि ये फल तो अकामनिर्जरादि अन्य प्रकार से भी प्राप्त हो सकते हैं।

गा. 1149-55 प्रधान द्रव्यस्तव आप्तकथित है और भावस्तव भी आप्तकथित है तो दोनों भाव स्तव ही क्यों नहीं है? क्योंकि द्रव्यस्तव रागसहित होने से किंचित् अशुद्ध है। चर्चा-उदाहरण।

द्रव्य स्तव-भावस्तव का फल-

गा. 1156 द्रव्य स्तव से शुभ बंध होता है। इस कर्म के विपाक से सुगति, संपत्ति, विवेकादि

द्रव्य-भाव स्तव का फल
भाव स्तव में 18000 शीलांग

की प्राप्ति होती है। द्रव्यस्तव के अभ्यास से परंपरा से भावस्तव भी प्राप्त होता है।

गा.1157 जिनबिंब प्रतिष्ठा के भाव से स्वयं का सुगति में स्थापन होता है। (गा.1126)

गा.1158 साधु दर्शन के भाव से अर्जित कर्म से गुणराग होता है और गुणराग से गुण प्रगटते हैं (गा.1127)

गा.1159 अन्य जीवों के प्रतिबोध के भाव से अर्जित कर्म से मोक्ष के एक हेतु रूप भाव चारित्र की प्राप्ति होती है (गा.1128)। यही भावचारित्र गुरु संयम है।

गा.1160 स्तोतव्य ऐसे वीतराग संबंधी उचित प्रवृत्ति से यह संयम भावस्तव है। अपेक्षा कि आज्ञा पालन ही कृतकृत्य ऐसे वीतराग संबंधी उचित प्रवृत्ति है।

गा.1161 भावसाधु सिवाय अन्य क्षुद्र आज्ञा पालन करने में समर्थ नहीं है क्योंकि (i) उन्हें इस प्रकार आज्ञा पालन के गुण के ज्ञान का अभाव होता है (ii) चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से।

अव. दुष्करत्व का कारण -

गा.1162 वीतराग की आज्ञा का पालन अत्यन्त भाव सारभूत ऐसे 18000 शीलांग के पालन रूप है।

अव. 18000 शीलांग -

गा.1163 योग 3 (~~मन-वचन-काया~~ करण-कारण-अनुमोदन), करण 3 (~~मन+इन्द्रिय~~ वचन काया), संज्ञा 4 (आहारादि), इंद्रिय 5 (पृथ्वी आदि) 9 जीव + अजीव = 10, 10 श्रमणधर्म। इनसे 18000 भेद होते हैं।

गा.1164 कृत-कारित-अनुमति → 3 योग, मन-वचन-काया → 3 करण, आहार-भय-मैथुन-परिग्रह → 4 संज्ञा, स्पर्श-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र → 5 इंद्रिय, यहाँ 5 इंद्रिय श्रोत्रादि पश्चानुपूर्वी से लेना। उत्तरोत्तर गुण प्राप्ति से ये शीलांग साध्य है, यह जनाने के लिए इंद्रिय पश्चानुपूर्वी से लेना।

गा.1165 पृथ्वी, अप्, तेजो, वायु, वनस्पति, बेइंद्रिय, ते-चरिंद्रिय, पंचेंद्रिय 9 जीव + 1 अजीव = अजीव पुस्तक पंचक, चर्म पंचक, तृण पंचक, शुषिर पंचक रूप है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन्य, ब्रह्मचर्य → 10 यतिधर्म। इसका यंत्र

बनाने पर 18000 शीलांग प्राप्त होंगे।

गा. 1166 शीलांग के 1 भांगे की धरना- आहार संज्ञा रहित, श्रोत्रेंद्रिय के संवर वाला, क्षमायुक्त, मन से, पृथ्वीकाय की हिंसा न करे।

गा. 1167-8-9 इस प्रकार एक-एक भांगे की धरना करना। $3 \times 3 = 9 \times 4 = 36 \times 5 = 180 \times 10 = 1800 \times 10 = 18000$।

अव. प्र. एक संयोगी भांगे 18000। यदि द्विकादि संयोगी करेंगे तो ज्यादा होंगे। तो द्विकादि संयोगी क्यों नहीं बताए?

गा. 1170 उ. सर्वविरति सभी भांगों से होती है। यदि एक भांगा भी शुद्ध न हो तो सर्वविरति का नाश होता है अतः यदि कोई सर्वविरतिधर का एक भांगा शुद्ध है तो वहाँ अन्य भांगे स्वतः ही शुद्ध समझना। इसलिए द्विकादि संयोग से अन्य भांगे बनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

गा. 1171-2 इसमें आत्मप्रदेश का दृष्टांत है- आत्मप्रदेश हमेशा आत्मा के साथ होता है, केवल्य एक नहीं होता। वैसे ही शीलांग भी एक-दो नहीं, संपूर्ण ही होते हैं।

गा. 1173 ये शील यहाँ सर्वसावद्य योग से निवृत्ति रूप आन्तर विरतिभाव की अपेक्षा से जानना है, बाह्य प्रवृत्ति के आश्रय से नहीं। जैसे-

गा. 1174 कोई कायोत्सर्ग वाले मुनि को किसी ने मोह से पानी में डाल दिया। बाह्य प्रवृत्ति से तो वे मुनि अप्काय की विराधना कर रहे हैं किन्तु आंतर भाव से मध्यस्थता के कारण वे मुनि अचलितभाव वाले अप्रवृत्त ही हैं।

गा. 1175 दार्ष्टान्तिक।

गा. 1176-7 आज्ञा से हिंसादि में प्रवृत्ति और भाव बिना होती हिंसादि में प्रवृत्ति विरति भाव को खंडित नहीं करती। राग बिना होने से।

अव. आज्ञा विरुद्ध प्रवृत्ति विरति भाव को खंडित करती है-

गा. 1178 स्वभाव विकल्प से शुद्ध किन्तु तत्त्व से अशुद्ध ऐसी प्रवृत्ति विरति भाव अवश्य तोड़ती है।

भाव साधु का स्वरूप

PAGE NO
DATE

यदि यह प्रवृत्ति अनभिनिवेश से हो तो अनुबंध कर्म रहित होती है। और

गा. 1179 यदि अभिनिवेश से हो तो सानुबंध होती है। यह सानुबंध प्रवृत्ति अवश्य चारित्रपरिण
के अभाव में ही होती है। इसलिए ही भद्रबाहु स्वामी ने कहा है -

गा. 1180 एक गीतार्थ का विहार, दूसरा गीतार्थ मिश्र विहार, दो को छोड़कर अन्य कोई विहा
प्रभु ने नहीं कहा है।

गा. 1181-82 गीतार्थ उत्सूत्र प्रवृत्ति नहीं करता। उससे युक्त अगीतार्थ भी उत्सूत्र प्रवृत्ति नहीं
करता। इसलिए चारित्र वाला यह कभी जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।
गीतार्थ अहित में प्रवृत्त अगीतार्थ को योग्य जानकर रोक सकता है। अतः
दोनों का चारित्र शुद्ध रहता है।

गा. 1183 इस प्रकार यहाँ संपूर्ण विरति भाव शीलांग रूप जानना क्योंकि पापविरति सभी
शीलांगों में एक ही है।

गा. 1184 18000 में एक भी कम हो तो शीलांग पूरे नष्ट होते हैं, इसका प्रमाण प्रतिक्रम
सूत्र में भी है - 'अट्ठारस सहस्स सीलंगधारा'।

अब कैसा साधु इन महान्-दुष्कर शीलांग के पालन में समर्थ है -

गा. 1185 जो संसार को अनंत जन्म-जरा-मरणादि रूप जानकर संसार से विरक्त हो,
जो गुरु उपदेश से मोक्ष को जानता हो,

गा. 1186 दोष रहित ऐसे भगवान् की आज्ञा की आराधना के गुण और विराधना के
दोष जानकर मोक्षार्थी होकर विशुद्ध भाव से शील ग्रहण करे,

गा. 1187 यथाशक्ति विहित अनुष्ठान में तत्पर हो, जो विहित अनुष्ठान से कर्म खपाता

गा. 1188 सभी वस्तु में मध्यस्थ हो, भगवान् की आज्ञा मात्र में उपयोग वाला हो, आज्ञ
में ही एकाग्र मन वाला हो, सब सत्य स्वीकारने से अमूढलक्ष यानि
निश्चित लक्ष्य वाला हो।

गा. 1189 जो तैलपात्रधर और राधावेध में उद्यत की तरह अप्रमत्त हो, वही शील

पालन में समर्थ है, अन्य सुदृढ़ नहीं।

गा. 1190-1 शील का ही दुष्करत्व कहते हैं।

गा. 1192-1204 सुवर्ण के दृष्टांत से साधु भाव साधु के गुण समझाए।

भाव. उपसंहार-

गा. 1205 जिन भवन निर्माण के प्रसंग में प्रासंगिक कथन इतना पर्याप्त है। भाव चारित्र का स्वरूप भी कहा गया। ~~अन्य पक्षी अनिवार्य पालेंगे~~ इस भाव से अर्जित पुण्य से ऐसा भावसाधुत्व प्राप्त होता है।

गा. 1206 अप्रतिपतित ऐसे शुभचिंतन से यह जीव चारित्र की जीवनभर बराबर पालना कर शुद्ध आराधना प्राप्त करता है।

गा. 1207 निश्चय मत से यह आराधना चारित्रस्वीकार के समय से मरण तक चली चलती है।

गा. 1208 ऐसा आराधक जीव परमार्थ से 3-8 भव में अवश्य सिद्ध होता है, यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करे।

गा. 1209-27 द्रव्य और भाव स्तव, एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। मुनि को भी अनुमोदना रूप में द्रव्य स्तव है। चर्चा, उदाहरण, आवश्यकादि सूत्रों के पाठ।

भाव. हिंसा-अहिंसा के स्वरूप की चर्चा-

गा. 1228-32 पूर्वपक्ष- जिनभवननिर्माण और वेदोक्त यज्ञ की हिंसा समान है।

गा. 1233-70 पूर्वपक्ष के एक-एक मुद्दे का खंडन। विशेष- जयणा संबंधी गा. 1264-1265 **

→ जिनभवन निर्माण में अचित्त जल उपयोग का विधान गा. 1265

गा. 1271-2 पूर्वपक्ष- तीर्थंकर की पूजा से मुक्ति कि कोई उपकार होता नहीं, तथा कृतार्थता का दोष लगता है।

गा. 1273-77 चिंतामणि कि रत्न की पूजा से उपकार होता है, यह लोक प्रसिद्ध है। ऐसे ही कृतकृत्य

वेद के अपौरुषेयत्व का खंडन
द्रव्य-भाव स्तव के योग्य जीव

की पूजा से भी उपकार होने में क्या विरोध? चर्चा

भव. वेद के अपौरुषेयत्व का खंडन -

गा. 1278-1300 तक अपौरुषेयत्व का खंडन।

गा. 1301 द्रव्यस्तवादि के विचार में इतने ~~का~~ प्रसंग से पर्याप्त है। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए द्रव्य-भाव स्तव जानना।

भव. द्रव्य-भाव स्तव किसको जीव में होते हैं -

गा. 1302 अल्प वीर्य वाले जीव को वीर्य की वृद्धि करने वाला द्रव्यस्तव श्रेयकर है। बहु वीर्य वाले को द्रव्यस्तव के त्याग सहित भावस्तव श्रेयस्कर है।

गा. 1303-10 अल्प वीर्य वाला जीव भाव स्तव के योग्य नहीं है।

↳ दान-शील-तप-भाव रूप धर्म में दान धर्म द्रव्यस्तव रूप और शेष 3 भाव स्तव रूप है। (गा. 1310)

गा. 1311 इस प्रकार धीर-बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा उन-उन सूत्रों के आलंबन से आगम युक्तियों द्वारा द्रव्यस्तवादि के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से विचार कर विवेक करना चाहिए।

भव. उपसंहार - (द्रव्यस्तव परिज्ञा का)

गा. 1312 इस प्रकार यह स्तव परिज्ञा मेरे द्वारा संक्षेप से वर्णन करी, विस्तार से इसका आशय अन्य सूत्रों से जानना।

भव. अब विषय को गणानुज्ञा विषय से जोड़ते हैं -

गा. 1313 प्रवचन के हित में तत्पर वह आचार्य शिष्य परिवार को औचित्य से इस प्रकार के गंभीर अर्थ वाले गण परिज्ञादि अन्य सूत्रों का व्याख्यान दे

भव. अन्य साधु को गण की अनुज्ञा देने की विधि -

गा. 1314 इस प्रकार अनुयोग की अनुज्ञा संक्षेप में वर्णन करी। गण की अनुज्ञा

भी इसी आचार्य को दी जा सकती है अथवा अन्य साधु में योग्यता (गुण) होने से कभी अन्य साधु को भी दी जा सकती है।

अव. गणानुज्ञा की योग्यता –

गा. 1315 (i) सूत्र-अर्थ में निष्णात (ii) प्रिय-धर्म, दृढ़-धर्म (iii) शिष्यों को अनुवर्तना (संयम संयमानुकूल प्रवृत्ति) कराने में कुशल, उपायज्ञ (iv) जाति-कुल संपन्न (v) गंभीर-महाशय (vi) उपकरणादि लब्धि से युक्त।

गा. 1316 (vii) उपदेशादि से शिष्य संग्रह और वस्त्रादि उपकरण से शिष्य के अनुग्रह में निरत (viii) सभी क्रियाओं का अभ्यासी (ix) प्रज्ञापनानुरणी (x) परार्थ प्रवृत्तः इस प्रकार का गण स्वामी जिनेंद्र द्वारा कहा गया है।

अव. प्रवर्तिनी पद की योग्यता –

गा. 1317 (i) श्रुत के उचित बोध वाली गीतार्था (ii) क्रियाओं की अभ्यासी (iii) उत्तम कुल वाली (iv) उत्सर्ग-अपवाद को जानने वाली (v) गंभीर-महाशय वाली (vi) दीर्घ दीक्षा पर्याय वाली (vii) वयोवृद्ध ऐसी साध्वी प्रवर्तिनी पद के योग्य कही है।

अव. अयोग्य को गणधर पद या प्रवर्तिनी पद देने से दोष –

गा. 1318 जो गुरु इन गुणों से रहित जीव को गच्छ अथवा प्रवर्तिनी-महत्तरा वि. पद देते हैं तथा जो यश की इच्छा से पद की अपेक्षा रखते हैं, वे आज्ञाभंग दोष को प्राप्त करते हैं।

गा. 1319 गौतमादि पुरुषसिंह द्वारा धारण किया गया ऐसा गणधर शब्द जो अपात्र में स्थापन करते हैं, वे महापापी मूढ़ होते हैं।

गा. 1320 काल के उचित गुणों से रहित जो साधु गणधर शब्द को स्वयं में स्थापन करता है तथा स्थापित पद का भी सम्यक् प्रकार से विशुद्ध भाव पूर्वक पालन नहीं करता, वह भी महा पापी है।

गा. 1321 ऐसे ही चंदनादि आर्याओं द्वारा धारित प्रवर्तिनी पद जो अयोग्य को देता है, वह महापापी है।

अयोग्य को पद देने के दोष
स्वत्वाधिक की योग्यता

गा. 1322 काल के उचित गुण से रहित साध्वी है जो प्रवर्तिनी पद स्वयं में स्थापन करे और विकृति भोजी होकर न पाले वह भी महापापी है।

अव. विशेष दोष कहते हैं -

गा. 1323 अयोग्य के स्थापन से लोक में उपघात होता है - जहाँ गुरु ही ऐसे उपयोग विना के हैं, वहाँ शिष्य तो अधिक गुण हीन होंगे। इस प्रकार अन्य प्राणियों को गणधरादि के गुणों में अनादर होता है क्योंकि वे सोचते हैं गुणों के अभाव में भी गणधर पद की सेवा होती है।

गा. 1324 स्व-पर का त्याग ⇒ गणधरादि पद अयोग्य को होने से महान् गुणों की मलमलिनता होने से कर्मबंध भी महान् बड़ा होता है, जिससे जो अयोग्य को पद देता है, वह अयोग्य को अनर्थ में जोड़ने से इसका त्याग करता है अर्थात् इसका अहित करता है। इस प्रकार पर त्याग हुआ। पर को अहित में जोड़ने से और भगवान् की आज्ञा के कोप से (अर्थात् उत्थंघन से) वह स्वयं भी अहित में गिरता है। इस प्रकार स्व त्याग हुआ।

गा. 1325 इसलिए भगवान् की आज्ञा का आसेवन करते गीतार्थ साधु को, साधु अथवा साध्वी को उक्त गुण युक्त जानकर गण अथवा प्रवर्तिनी पद दे।

पूर्व. स्वत्वाधि यानि वस्त्र-पात्रादि प्राप्त करने की स्वयं की योग्यता स्वत्वाधिक योग्य साधु कैसा होता है

गा. 1326 दीक्षा और वय से बड़ीत्व हो, परिणत हो, संयम में धृतिवाला हो, पिण्डैषणादि विधि का ज्ञाता हो, बृहत्कल्प की पीठिका की निर्युक्ति का ज्ञाता हो, सामान्य से सदुपदर्शक (शिष्य के चित्त को समझने वाला हो) हो, वह स्वत्वाधि के योग्य होता है।

अव. स्वत्वाधिक की विहार विधि कहते हैं -

गा. 1327 यह स्वलब्धिक गुरु के साथ विहार करे अथवा गुरु द्वारा दिये हुए शिष्य परिवार के साथ या परिवार के अभाव में भी समाप्तकल्प विधि से ही विहार करें।

~~गा. 1328~~ अव. समाप्तकल्प विधि -

गा. 1328 कल्प - 2 प्र. 1. जात कल्प 2. अजातकल्प। दोनों के 2-2 प्र. (i) समाप्त कल्प (ii) असमाप्त कल्प। कल्प = व्यवस्था।

गा. 1329 1. गीतार्थ से युक्त विहारादि आचार = जात कल्प। 2. गीतार्थ रहित विहार = अजातकल्प। (i) समाप्तकल्प = कम-से-कम 3 साधु का विहार। (ii) असमाप्त कल्प = 3 से कम साधु का विहार।

गा. 1330 अत्तुलट्ठ यानि शेष काल में यह व्यवस्था है। वर्षाकाल में तो 4 साधु से समाप्त कल्प होता है।

अव. असमाप्त-अजात कल्प के दोष -

" असमाप्त और अजात कल्प वाले साधुओं को आभाव्य नहीं होता है अर्थात् उस क्षेत्र संबंधी शिष्य, गोचरी, वस्त्र, पात्र, उपधि, वसति वि. सभी उनके लिए अकल्प्य है।

गा. 1331 समाप्त और जात कल्प होने पर ही आभाव्य होता है। यदि स्वयं के कुल में समाप्त या जात कल्प न हो तो अन्य कुल वाले साधुओं के साथ मिलकर भी कल्प पूर्ण करे। ~~लेकिन~~ फिर उन्हें आभाव्य होता है, उसका पहले से संकेत कर ले कि गोचरी का मालिक यह होगा, वस्त्र-उपधि वि. का मालिक यह-यह होगा।

अव. साध्वी की अपेक्षा से स्वलब्धिक की योग्यता -

गा. 1332 जो साध्वी शेष ~~साध्वी~~ साध्वियों से अधिक गुणवती है, दीक्षा पर्याय ~~से~~ सूत्र

श्रुतादि से परिणत है, वह स्वतल्बि के योग्य है।

गा.1333 कोई आचार्य कहते हैं कि साध्वी को स्वतल्बि नहीं होती क्योंकि वे सभी वस्
गुरु द्वारा परीक्षा कर ही लेते हैं। स्वतल्बि होने में इन्हें अत्यत्तवादि दोष
अवश्य होते हैं।

गा.1334 ~~कोई~~ किन्तु यह मत सही नहीं है क्योंकि शिष्य-भिक्षादि उचित विषय में
स्वतल्बि होती है। परिणत वयबाली साध्वी को स्वतल्बि होने में दोष नहीं
यह पूर्वपुरुषों द्वारा आचरित भी है। ~~स्व~~

अव. साध्वियों के जात और समाप्त कल्प -

गा.1335 साध्वियों को अधिक दोष संभव होने से जात और समाप्त कल्प में उनकी
संख्या साधुओं से दोगुनी करना अर्थात् क्रमशः 10 और 14।

अव. गणानुज्ञा की विधि -

गा.1336 गुरु शिष्य को अपने हाथ की तरफ खड़ा रखकर देववंदन करे। फिर शिष्य क
गा.1337 'इच्छाकारेण अम्हं दिसाइ अणुजाणह' आप स्वेच्छा से हमें दिशादि की
अनुज्ञा दो। आचार्य 'इच्छामो' में इच्छा करता हूँ, कहकर दिशादि की
अनुज्ञा के लिए काउस्सग्ग करे।

गा.1338 काउस्सग्ग में 'लोगस्स' विचारकर 'नमो अरिहंताणं' बोलकर काउस्सग्ग पारे। फि
~~स्व~~ लोगस्स बोले। फिर नंदीसूत्र बोले।

गा.1339 भावित आत्मा वाला शिष्य उपयोग पूर्वक सुने। फिर वंदन कर, वापस कहे -
'इच्छाकारेण अम्हं दिसाइ अणुजाणह'।

गा.1340 गुरु बोले - 'खमासमणाणं हत्थेण इमस्स साहुस्स अणुजाणिअं दिसाइ'
मेरी बुद्धि से नहीं किंतु क्षमाश्रमणों के हाथ से इस साधु को दिशादि
की अनुज्ञा दी। फिर शिष्य वंदन कर बोले -

गा.1341 'संदिसह किं भणामि' - आप कहो कि मैं क्या कहूँ?। गुरु कहे - वंदन कर ~~स्व~~वंदन कर

'वंदित्तु पवेइअं'। शिष्य वंदन कर प्रवेदन करता है।

1342 शिष्य बोले- तुब्भं पवेइअं संदिसह साहूणं पवेएमि= आपको प्रवेदन किया, आप आज्ञा दो कि साधुओं को प्रवेदन करूँ। गुरु- पवेएह।

1343 फिर शिष्य वंदन कर नवकार बोलते-बोलते गुरु को प्रदक्षिणा देता है। गुरु भी देवादि को वासक्षेप देकर -

1345 शिष्य के सिर पर वास क्षेप करते हुए बोले- गुरुगुणेहिं वुड्ढिज्जाहि। इस प्रकार ३ बार बोले। फिर गुरु बैठ जाए।

1345 शेष प्रदक्षिणादि दीक्षाविधि जैसे ही। दिगादि की अनुज्ञा के लिए यहाँ काउस्सग्ग करे। फिर वह साधु (शिष्य) गुरु के पास बैठ जाए।

1346 फिर सभी साधु उसे वंदन करे। गुरु भी गच्छ और नए गणधर को संवेग के सार रूप देशना दे जिससे अन्य जीव भी बोध पाये।

अब. नूतन गणधर की हितशिक्षा-

1347 यह गणधर पद जिनवरों द्वारा उत्तम कहा गया है। यह उत्तम फल (मोक्ष) का जनक है। यह पद गणधरादि उत्तम पुरुषों द्वारा सेवित है।

1348 धन्य पुरुषों को यह पद दिया जाता है। धन्य लोग ही पद के पार को विधि पूर्वक प्राप्त करते हैं। धन्य लोग ही इस पद के पार जाकर दुःखों के पार को प्राप्त करते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं।

1349 ~~जो ज्ञानादि प्रधान गुणों~~ जो संसार में भय से भीत दुःखी लोगों के रक्षण में समर्थ ऐसे ज्ञानादि प्रधान गुणों को प्राप्त कर जीवों का रक्षण करता है, वह महासत्त्वशाली धन्य है।

1350 यद्यपि अज्ञान रूपी व्याधि से ग्रस्त जीव व्याधि के दोष से दुःख को दूर करने के लिए जल्दी आतुर नहीं होते तो भी भावतः वैद्य= तात्त्विक वैद्य

उनकी अज्ञान रूप व्याधि को दूर करते हैं।

गा. 1351 तू भाव बैद्य है और ये भवदुःख से पीड़ित ये साधु दीक्षा स्वीकारने द्वारा तेरी शरण को प्राप्त हुए हैं अतः ये तेरे द्वारा सम्यक्त्व कराने पूर्वक द्वारा दुःख से छुड़ाने योग्य हैं।

गा. 1352 जो संसार सुख में अप्रतिबद्ध है अर्थात् निःस्पृह है और मोक्ष सुख में ही प्रतिबद्ध है, वही परहित करण में नित्य उद्युक्त, अप्रमत्त होकर इन्हें दुःख से छुड़ाता है।

गा. 1353 तू इस प्रकार का ही पुण्यवान् है तो भी शास्त्र नीति से तू मेरे द्वारा कहा गया है। तुझे हमेशा स्वयं की अवस्था के अनुरूप कुशल्य ही करना चाहिए, अन्य नहीं।

अवं. गच्छ की हितशिक्षा -

गा. 1354 महागहन ऐसे संसार रूपी वन में सिद्धिपुर (मोक्ष) के सार्थवाह समान यह गुरु तुम्हारे द्वारा प्रयत्न से क्षण के लिए भी छोड़ने योग्य नहीं है। किसी भी उपाय बिना मोक्ष में ले जाने से ये सिद्धिपुर के सार्थवाह हैं

गा. 1355 ज्ञान की राशि समान इन गुरु का वचन तुम्हारे द्वारा प्रतिकूल करने योग्य नहीं है। इस प्रकार आज्ञा के आराधन से दीक्षा-गृहवासत्याग सफल होता है।

गा. 1356 अन्यथा उनके वचन प्रतिकूल करने से परमगुरु तीर्थंकर की आज्ञा का भंग होता है। वह आज्ञाभंग होने पर इह-पर लोक अवश्य निष्फल होते हैं।

गा. 1357 किसी कार्य में निर्भर्त्सित होने पर भी तुम्हारे द्वारा कैसे भी इन गुरु के चरणक सांनिध्य मरण तक छोड़ने योग्य नहीं है, कुलवधू के दृष्टांत से।

गा. 1358 गुरुकुल में वसता साधु ज्ञान का भागी होता है। दर्शन और चारित्र में

साध्वी और स्वत्याधिक को हित शिक्षा
उपसंहार

PAGE NO. 121
DATE

स्थिर होता है। इसलिए धन्य जीव गुरुकुलवास कभी नहीं छोड़ते।

1359 इसी प्रकार आचार्य साध्वी को भी हितशिक्षा दें तथा आर्या चन्दना, मृगावती आदि के परमगुण कहे।

अत. स्वत्याधिक को हितशिक्षा -

1360 आज तक तुझे गुरु के पारतन्त्र्य से एकांत निर्दोष ऐसे वस्त्रादि की प्राप्ति, गुरु द्वारा परीक्षित वस्त्र की प्राप्ति होती थी।

1361 अब स्वत्याधि की अनुज्ञा से तू वस्त्रादि की प्राप्ति मेंश्रुत के अधीन हुआ है। अतः जैसे साधिक लाभ हो, उस प्रकार तेरे द्वारा किया जाना चाहिए। सभी जगह सूत्रानुसार ही प्रवर्तना चाहिए।

आगे की विधि -

1362 फिर सपरिवार अभिनव गुरु उठकर आचार्य को ३ प्रदक्षिणा कर वंदन करे। फिर यहां प्रवेदन और संप्रस्थापन शब्द में विकल्प है अर्थात् प्रवेदन यानि पच्चक्खाण ले ले और संप्रस्थापन यानि गुरु के पास बैठकर वाचना दें। जिनकी जैसी आचरणा हो, वे वैसा करे।

1363 फिर यह नूतन आचार्य गुरु शेषकृत्य से रहित होकर, मध्यस्थ होकर, सिद्धांत नीति से गण का पालन करे। और अन्य शिष्यों को स्वयं के समान प्रयत्न से तैयार करे।

अब. उपसंहार -

1364 इस प्रकार अनुयोग-गण अनुज्ञा संक्षेप से वर्णन कराई। अब पंचम संलेखना द्वार कहूंगा।

1365 अनुयोग और गण अनुज्ञा के प्राप्त होने पर धीर आचार्य अंत तक उनका पालन करे, जब तक क्रम से चरम काल समीप में आए।

(9) अनुयोग गणानुज्ञा वस्तुपूर्ण।

(६) संलेखना

संलेखना की पूर्व तैयारी :- मन

अब : (६) संलेखना वस्तु -

गा. 1366 जिनेश्वरों द्वारा अनुज्ञप्त विचित्र तप क्रिया संलेखना कही जाती है जिससे बाह्य देह और अभ्यंतर कषायादि अवश्य कृश होते हैं। संलिख्यते अनेन इति संलेखना; कृशीक्रियते इत्यर्थः।

गा. 1367 सामान्य से सभी तपक्रिया शरीर-कषाय को कृश करती है किंतु यहाँ जो तप क्रिया चरम काल में देहत्याग के लिए होती है, वह विशिष्ट

गा. 1368 सूत्रोक्त विधि से गणी, उपाध्यायादि पद को पाकर स्थविर जिन-कल्पादि अभ्युद्यत विहार का अथवा पादपोपगमनादि अभ्युद्यत मरण स्वीकारना साधुओं को उचित है। (जानना।)

गा. 1369 यह अभ्युद्यत विहार संलेखना समान होने से यहाँ संलेखना द्वार में उसका विवरण विरुद्ध नहीं जानना।

गा. 1370 अभ्युद्यत विहार को संक्षेप से कहकर फिर सिद्धांत की नीति से अभ्युद्यत मरण को कहूँगा।

गा. 1371 (द्वार गाथा) 1. सत्त्वतुल्यबलसिद्धत्व, 2. आचार्यादि 5 की स्वयोग विषयक तुलना 3. उपकरण 4. इंद्रियजयादि परिकर्म 5. तप 6. सत्त्व 7. श्रुत 8. एकत्व 9. उपसर्गसह- 5-9 तक ये पाँच भावना (अभ्यास) 10. अपवाद से वटवृक्ष के नीचे कल्प स्वीकारे

गा. 1372 1. वह ऐसे वे आचार्य रात को सोने के पहले या सोकर उठने के बाद धर्मजागरिका में धर्मध्यान करते हुए हृदय से यह विचारे → गा. 1373 । वे आचार्य उत्तम और प्रशस्त ध्यान वाले होंगे।

गा. 1373 मैंने दीर्घ पर्याय पाला, उचित शिष्यों को वाचना भी दी, शिष्यों को तैयार भी किया, जिससे गुरु का ऋण मुक्त हो गया। अब मुझे क्या करना योग्य है।

गा. 1374 क्या मैं जिनकल्पादि अभ्युद्यत विहार से विचरूँ या अभ्युद्यत मरण से शास्त्रोक्त विधि प्रमाणे मरण प्राप्त करूँ।

गा. 1375 अभी मुझे जो उचित है, वह करने से प्रारंभ की हुई प्रव्रज्या का निर्वाह अखंड होगा अन्यथा निरस मृत्यु से प्रव्रज्या अखंड नहीं रहेगी। इस प्रकार यहाँ "अव्यवच्छित्तिमन नाम का द्वार पूर्ण हुआ।

अब. अभ्युद्यत विहार और अभ्युद्यत मरण का स्वरूप -

गा. 1376 अभ्युद्यत विहार - 3 प्र. जिनकल्पिक, शुद्धपरिहारिक, यथालंदिक।
अभ्युद्यत मिमरण - 3 प्र. पादपोपगमन, इंगितमरण, भक्तपरिज्ञा।
संपूर्ण संलेखना वस्तु में इनका ही विस्तारार्थ है।

गा. 1377 श्रुत के अतिशय से या अन्य अतिशयश्रुतधर से स्वयं का थोड़ा ही आयुष्य शेष जानकर बहुत गुण के लाभ का कांक्षी ऐसा साधु अभ्युद्यत विहार को स्वीकारता है।

अब. प्रसंग कहकर अब पंचतुलना नामक दूसरे द्वार (गा. 1371) को कहते

गा. 1378 गच्छाधिपति आचार्य, सूत्र देने वाले उपाध्याय, उचित प्रवृत्ति कराने वाले प्रवर्तक, स्थिर करने वाले स्थविर, गण के एक देश के पालन में समर्थ गणावच्छेदक ये 5 पुरुष प्रायः अभ्युद्यत विहार के अधिकारी हैं। इन्हें यह तुलना करना होती है -

गा. 1379 आचार्य कुछ परिमित समय के लिए स्वयं का गण अन्य को सौंपे अथवा उपाध्यायादि जो पद पर हों, वह स्वयं का पद अन्य को सौंपे।

गा. 1380 'देखते हैं कि ये नए आचार्य इस स्थान के लिए उचित हैं या नहीं', इस आशय से। प्र. अयोग्य को तो पद देते ही नहीं हैं, योग्य को देने में क्या सोचना ? उ. सामान्य पद की जवाबदारी संभालना योग्य जीवों को भी दुष्कर होती है, यह तो लोक प्रसिद्ध है।

दृष्टा. युक्त क्योंकि छोटे लोगों को कोई भी कार्य बहु गुण की हानि करने
गा. 1381 वाला और थोड़े ही गुण को साधने वाला कार्य कभी भी इष्ट नहीं होता

3. उपकरण)
4. इंद्रिय जय
5. तप (अभ्यास)

गा. 1382 3. शुद्ध, एषणा के ज्ञान से युक्त, स्वकल्प के उचित वस्त्रादि उपकरण ग्रहण करे। ऐसे वस्त्रों का अभाव होने पर स्वकल्प के उचित वस्त्र न मिले तब तक यथाकृत वस्त्र ग्रहण करे।

गा. 1383 स्वकल्प के योग्य उपकरण मिलने पर यथाकृत उपकरणों को सूत्रोक्त विधि से परठवे। उपकरणत्याग में निःस्पृह होने से आज्ञा में रत इन साधु को स्वकल्पोचित उपकरण भी यथाकृत जैसा ही है।

गा. 1384 परलोक में सर्वथा आज्ञा ही प्रमाण जानना, अन्य नहीं। आज्ञा के आराधन में ही धर्म है, बाह्यक्रिया तो मात्र निमित्त है।

गा. 1385 उपकरण भी जिनाज्ञा के आराधन में उपकार करता हो तो उपकरण कहा जाता है। अन्यथा आराधना में उपकार के अभाव में अधिकरण ही होता है।

गा. 1386 4. परिकर्म = इंद्रियादि के विनियम का अभ्यास। इंद्रियों की अपायादि की आलोचना विधि से यह सम्यक् प्रकार से होता है।

गा. 1387 5. इंद्रिय-कषाय-योग (क्रियारणा), सभी पूर्व में ही साधु द्वारा नियंत्रित कराए हुए हैं। तो भी उन की जय से सिद्धि को मानता हुआ यत्न करे।

गा. 1388 प्रस्तुत अधिकार में इंद्रिय योगों से वैसा अधिकार नहीं है जैसा कषायों से है क्योंकि कषाय बिना इंद्रिय और योग दुःख वृद्धि के बीज नहीं (विषय) होते।

गा. 1389 वे कषाय भी इंद्रिय और योग बिना नहीं होते इसलिए उनका भी नियमन करना चाहिए।

गा. 1390 5. इस प्रकार इंद्रियादि के नियमन से परिकर्मित भाव वाला पूर्व में अभ्यस्त नहीं किए हुए घोरसी वि. तप को भूख पर विजय के लिए तैयार करे। यहाँ गिरिनदी सिंह का दृष्टांत है, जैसे गिरिनदी को बार-बार उतरने से सिंह सरलता से उतरता है। इस प्रकार यह अबाधक तप (बाधक) को अबाधक करे।

6. सत्त्व - ५ प्रतिमा (अभ्यास)
7. भुत (अभ्यास

गा. 1391 पोरसी वि. प्रत्येक तप को उस प्रकार आत्मसात् करे जिससे कभी देव ६ महिने तक उपसर्ग करे तो भी हानि न हो।

गा. 1392 तप से अल्प आहार वाले जीव की स्पर्शादि इंद्रियाँ विषयों में प्रवर्तती नहीं हैं, क्योंकि धातु के उद्रेक का अभाव है। और तप से क्षीण भी नहीं होती रसवाले आहार में आसक्त भी नहीं होती क्योंकि अनादर से आहार करने से परमार्थ से परिभोग नहीं होता।

गा. 1393 तप-भावना से दान्त ऐसी इंद्रिय जिसके वश में आ जाती है, वह इंद्रियों की त्यागकारी क्रियाओं का गुरु, इंद्रियों का समाधि के व्यापारों में जोड़ता है।

गा. 1394 6. इस प्रकार तप भावना से दृढ़ मुनि सत्त्व का अभ्यास करता है। उस अभ्यास में ये ५ प्रतिमाएँ होती हैं -

गा. 1395 प्रथम उपाश्रय में, द्वितीय उपाश्रय के बाहर, तृतीय नगर के चौराहे पर, चतुर्थी शून्यगृह में, पंचमी श्मशान में।

गा. 1396 इन प्रतिमाओं में ~~समाधि अनुसार~~ पूर्व में प्रवृत्त ऐसी निद्रा को समाधि अनुसार जीते। तथा चूहे, बिल्ली आदि के स्पर्श में उत्पन्न भय को जीते।

गा. 1397 इस क्रम से वात्य, चोर, देवादि के भय को जीत कर वह महासत्त्ववाले यह मुनि निर्भय होकर सभी प्रतिमाओं के भार को वहन करे।

गा. 1398 7. अब यह मुनि अनाःकरण से एकाग्र मनवाले, वाग्व्यवृत्ति से अनाकुल होकर सूत्रभावना को इच्छवाहादि के मान से अच्छी प्रकार से अभ्यस्त करे जिससे वह सूत्र के स्वाध्याय से ही कालज्ञ का परिमाण जान सके।

गा. 1399 सूत्र के अभ्यास से ही वह प्राण (उच्छ्वास-निश्वास) के छोटे-छोटे मान को (७ प्राण प्रमाण से भी कम) और उससे मुहूर्त्त (२ घड़ी) को, मुहूर्त्त से पोरसी को और पोरसी से रात-दिन के कालज्ञ को जान सके।

8. एकत्व (अभ्यास)
9. उपसर्ग सह - शारीरिक और मानसिक बल्य का अभ्यास

PAGE NO
DATE

गा.1400 सूत्र के अभ्यास के उपयोग से वह सदैव अमूढलक्षतया निरतिचार होकर अविपरीत विहितानुष्ठान करता रहे।

गा.1401 मेघादि से आकाश ढंका होने पर भी या देव के उपसर्ग में भी वह उपकरण के पडिलेहन, भिक्षा, विहार, प्रतिक्रमण आदि को शुरू करने का काल और समाप्त करने का काल पाया बिना भी जान सके।

गा.1402 8. फिर यह मुनि गुरुआदि के दर्शन-आलाप के परिहारपूर्वक, ममत्वरहित होक तत्त्वं का हृदय में कर एकत्वभावना का अभ्यास करे।

गा.1403 तत्त्व - तत्त्वसे आत्मा एक ही है, सभी देहादि संयोगिक वस्तु दुःख के निमित्त है, मध्यस्थ भाव वाली आत्मा हितकर है।

गा.1404 इस प्रकार परमार्थ से भावित होकर और सुखदुःख में सम होकर, वह बाह्य भाव में नहीं किंतु आत्मा में रमे। फिर यह क्रम से शुद्ध होता हुआ चारित्र रूप उत्तरोत्तर कार्य को साधता है।

गा.1405 इस एकत्व भावना से कामभोग में, गण में या शरीर में आसक्ति नहीं होती तथा वैराग्य से ध्यान योग का ध्यान निर्जरा का स्पर्श होता है।

गा.1406 9. इस प्रकार एकत्व भावना से युक्त दोनों प्रकार के शारीरिक (कायोत्सर्गरूप) और मानसिक (धीरजरूप) बल्य का अभ्यास करे।

गा.1407 वह अधिकतर समय काउसग्ग में खड़ा रहे। यहकाउसग्ग का सामर्थ्य अंदर आत्मा में होने पर भी अभ्यास से प्रगट होता है।

गा.1408 इसी प्रकार सदा शुभभाव में रहने का भी अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्या के लिए धृति = धीरज रखना चाहिए। जैसी धीरज चोभी का निधानादि कलशा में इष्ट फल की सिद्धि होने से होती है।

गा.1409 धृति और बल्य से कमर बांधकर कर्म जय के लिए उद्यत, ऐसा प्रतिमान्

पिंडैषणा और वस्त्रैषणा

साधु सभी जगह विषाद नहीं करता हुआ उपसर्ग को सहन करने वाला होता है।

अत. ६-१ तक भी भावना कहकर विशेष को कहते हैं -

गा. 1410 सभी भावनाओं में सामान्य से यह विधि होती है।

गा. 1411 जिनकल्पीसमान वह महात्मा गच्छ में ही रहकर आहार और उपधि में बाह्य और अभ्यंतर दो प्रकार के परिकर्म करते हैं, फिर कल्प को स्वीकारते हैं।

गा. 1412 तीसरी पोरसी में वे अंतिम ६ एषणा में से किसी एक से बाल वि. अल्पकृत आहार लेते हैं तथा उपधि दो में से किसी एक एषणा से यथाकृत उपधि लेते हैं।

सामान्य से आहार की ७ एषणा -

(i) संसृष्ट = गृहस्थ के खरड़े हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।

(ii) असंसृष्ट = गृहस्थ के नहीं खरड़े हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।

(iii) उद्धृत = गृहस्थ ने स्वयं के लिए मूल बर्तन में से निकाले हुए आहार से लेना

(iv) अल्पलेप = अल्पकृत लेना।

(v) अवगृहीत = भोजन के लिए परोसी हुई थाली से लेना।

(vi) उद्गृहीत = भोजन के लिए परोसने वाले या खाने वाले के हाथ में ग्रहण किए हुए कवल में से लेना।

(vii) उज्झित धर्मा = जो फेंकने का आहार हो, उसमें से लेना।

वस्त्र की ५ एषणा -

(i) उद्दिष्टा = गुरु को कहे 'मैं इस प्रकार का वस्त्र लूंगा', वैसा ही वस्त्र लेना।

(ii) प्रेक्षिता = गृहस्थ के घर वस्त्र देखकर वस्त्र मांगना।

(iii) भुक्ता = गृहस्थ पुराने कपड़े खोलकर नए कपड़े पहने तब पुराने कपड़े वह नीचे रखे

10. कल्प स्वीकार

जिनकल्प स्वीकारने की विधि

PAGE NO

DATE

उससे पहले ही याचना करना।

(14) उज्झितधर्मा = गृहस्थ को छोड़ने योग्य कपड़े लेना।

गा. 1413 जिनकल्पी करपात्री और पात्रधारी तथा वस्त्रधारी और वस्त्र रहित ऐसे दो प्रकार के होते हैं। जिसे जैसा बनना हो वह उस प्रकार अभ्यास करे।

गा. 1414 10. इस प्रकार परिकर्म में तैयार होकर पूर्व में जिसे कुछ काल के लिए परसौंपा था उसे योग्य जानकर सभी प्रकार से अनुज्ञा दे, फिर उन्हें हितशिक्षा दे।

गा. 1415 फिर सामान्य से बाल से वृद्ध तक यथोचित पूरे संघ को खमाए। जिन्हें पहले विरोध हुआ हो, उन्हें अत्यंत संविग्न होकर विशेष से खमाएँ।

गा. 1416 अर्थात् पूर्व में प्रमाद के कारण मेरे द्वारा जो कुछ संघ से अच्छा वर्तन नहीं किया गया, उसे मैं निष्कषाय और निःशल्य होकर खमाता हूँ।

गा. 1417 द्रव्यादि अनुकूल हो तो दशादि महाविभूति से जिनादि आलिंगन वाले महापुरुष के पास, वैसा न हो तो अपवाद से वटवृक्ष के नीचे जिनकल्प स्वीकारे।

(टीका गा. 1371 पूर्ण)

अब जिनकल्प स्वीकारने के बाद की विधि -

गा. 1418 वे मुनि 'तीसरे प्रहर में नवकार गिनने' वि. भावना के सार रूप विधि कर वहाँ से सर्व प्रकार से विहार करे।

गा. 1419 बहुत थोड़ी उपधि वाले जिनकल्पी के अच्छे रूप बगीचे से विहार करने पर जब वे दृष्टि से ओझल हो जाए तब आनंदित साधु स्वयं की वसति में आ जाए।

गा. 1420 यह क्षेत्र व्याघात रहित होने से मास कल्प के योग्य है, ऐसा जानकर वहाँ स्वमर्यादा का पालन करे। यह जिनकल्पी के विहार का संक्षेप से वर्णन है।

10 सामाचारी
जिनकल्पी की सामाचारी
जिनकल्पी भुत्तादि की मर्यादा

PAGE NO. 129
DATE

प्रति. ~~10 सामाचारी जिनकल्पी की सामाचारी~~, 10 सामाचारी -

गा. 1421 इस क्षेत्र में जिनकल्पी की दशविध सामाचारी में से विकल्प से जो सामाचारी होती है, वह गुरु उपदेशानुसार (स्वबुद्धि से नहीं) कहता हूँ।

गा. 1422 दशविध सामाचारी - (i) इच्छाकार = दूसरे को कार्य करने में या कराने में (ii) मिथ्याकार = भूल स्वीकार कर मिच्छामि दुक्कडम् कहना (iii) तथाकार = गुरु के वचन सहर्ष करना (iv) आवश्यिकी = वसति से बाहर निकलने पर (v) नैषेधिकी = वसति प्रवेश में (vi) आपृच्छा = कोई भी कार्य गुरु को पूछ-कर करे (vii) प्रतिपृच्छा = कोई आदिष्ट कार्य करते समय बापस पूछना (viii) छन्दना = आहार-पानी की साधुओं को विनंतिकरना (ix) निमंत्रणा = गोचरी जाने से पहले सबको निमंत्रण करे (x) उपसंपदा = श्रुतादि के लिए अन्य आचार्य के पास जाना।

हस्त. जिनकल्पी की सामाचारी -

गा. 1423 आवश्यिकी, नैषेधिकी, मिथ्याकार, पृच्छा, उपसंपदा - ये 5 सामाचारी जिनकल्पी को होती है। पृच्छा और उपसंपदा गृहस्थों में औचित्यपूर्वक पालना चाहिए। शेष 5 उन्हें प्रयोजन का अभाव होने से नहीं होती। अथवा

गा. 1424 आवश्यिकी, नैषेधिकी और उपसंपदा, सिवाय 7 उन्हें नहीं होती। अथवा

गा. 1425 जिनकल्पी वि. जिसे जो सामाचारी योग्य हो, वह जानना। श्रुतादि संबंधी यह मर्यादा है -

गा. 1426 (हास) 1. श्रुत 2. संघयण 3. उपसर्ग 4. आतंक 5. वेदना 6. कितने जने 7. स्थंडिल 8. वसति 9. कब तक 10. उच्चार 11. प्रश्रवण

गा. 1427 (हास) 12. अवकाश 13. चूर्ण कल्क 14. संरक्षण 15. संस्थापन 16. प्राभृतिका 17. अग्नि

जिनकल्पी संबंधी मर्यादा के 27 द्वार

PAGE NO
DATE

18. दीपक 19. अवधान 20. कितने जने।

गा.1428 (द्वार) 21. भिक्षाचर्या 22. पानी 23. लेपालेप 24. अलेप 25. आचाम्ल 26. प्रतिमा
27. मास कल्प १ - ये 27 द्वार हैं।

गा.1429 1. श्रुत - जघन्य से 9 पूर्व की 3 वस्तु, उत्कृष्ट से 10 पूर्व में कुछ न्यून

गा.1430 2. संहनन - पारिज से वज्र की दीवाल जैसे पहले संघयण वाले ही जिनकल्प स्वीकारते हैं, अन्य नहीं।

गा.1431 3. उपसर्ग - देवादि के उपसर्ग इन्हें हो भी सकते हैं या नहीं भी। यदि कोई उपसर्ग आए तो भावनाओं के अतिशय अभ्यास से महासत्त्व वाले वे निश्चल चित्त से सहन करते हैं।

गा.1432 4. आतंक - जल्दी से प्राणघात करने वाले ज्वरादि रोग आतंक कहे जाते हैं। वे भी यदि जिनकल्पी को हो तो दूर करने के उपाय बिना सहन करे।

गा.1433 5. वेदना - 2 प्र. (i) अभ्युपगमिकी - जो स्वयं स्वीकारी हो, लोचादि (ii) औपक्रमिकी = जो कर्मोदय से हो ज्वरादि के विपाकरूप। दोनों प्रकार की वेदना सहन करे।

गा.1434 6. कितने जन - ये जिनकल्पी सभी जगह, सभी उपकार से भाव से रागादि बिना एक ही होते हैं, वसति द्रव्य में एक या अनेक भी होते हैं।

गा.1435 7. स्थंडिल - कृतकृत्य ऐसे जिनकल्पी अनापात - असंलोकादि गुणवाली स्थंडिल भूमि में ही मल-मूत्र और जीर्ण वस्त्र परठते हैं।

गा.1436 8. वसति - जिनकल्पी वसति में ममत्व रहित होते हैं। लीपना वि-परिकर्म से रहित उनकी वसति होती है। द्वार बंद करना, बिल्कुल बंद करना, भग्न वसति का जीर्णोद्धार वि.काम वे कभी नहीं करते हैं, क्योंकि उनके अनुष्ठान अपवाद रहित होते हैं। स्थविर कल्पी की वसति भी पुष्ट कारण बिना ऐसी ही होती है, पुष्ट कारण से भी अल्प कोई परिकर्म वे नहीं करते।

गा. 1437 9. कब तक ?- वसति की याचना करते समय यदि वसति का मालिक 'कब तक रहोगे ?' ऐसा पूछे तो जिनकल्पी वहाँ नहीं रहते क्योंकि उसमें सूक्ष्म ममत्व होता है।

गा. 1438 10. उच्चार- जिस वसति में मालिक कहे कि यहाँ कभी ठल्ले नहीं करना, वहाँ न रहे।

गा. 1439 11. प्रस्रवण- जहाँ मालिक कहे कि इतनी जगह में ही मात्रु करना, वह वसति अयोग्य है।

गा. 1440 12. अवकाश- मालिक कहे कि इतनी जगह में ही रहना, वह भी अशुद्ध वसति है।

गा. 1441 13. तृणफलक- मालिक कहे कि इतने तृणफलक का उपयोग करना अथवा न करना, वह भी अशुद्ध वसति है।

गा. 1442 14. संरक्षणा- मालिक कहे कि गाय वि. का रक्षण करना, वह वसति भी अयोग्य।

गा. 1443 15. संस्थापना- मालिक कहे कि वसति गिरे तो उपेक्षा मत करना, वह भी अयोग्य।

गा. 1444 गा. 1427 में च कार का अर्थ- जिस वसति में मालिक अन्य कोई भी शर्त करे, वह अयोग्य।

गा. 1445 16. प्राभृतिका- जिस वसति में पक्षियों को दाना डाला जाए वह प्राभृतिका वसति कही जाती है। वह वसति अकल्प्य है क्योंकि वहाँ जिनकल्पी के कायोत्सर्ग करने से अ दाना डालने की जगह बदली जाए या पक्षी खाने न चुगे तो पक्षियों को अंतराय होता है।

गा. 1446 17. अग्नि- अग्नि सहित वसति में प्रमार्जना से रेणु वि. से अग्निकाय के जीवों का नाश। यदि नहीं प्रमार्जे तो आज्ञा भंग। यदि अंगारे हो तो अग्नि का स्पर्श नहीं होगा, ज्योति होगी तो स्पर्श होगा।

गा. 1447 18. दीप- वसति में दीपक होने से ज्योति स्पर्श का दोष विशेष लगता है। पूर्वोक्त प्रमार्जनादि से दोष।

गा.1548 19. अवधान - अवधान यानि वसति का मालिक कौन - हे भगवन् आप हमारे पर कृ
ध्यान रखना, वह वसति अकल्प्य।

गा.1549 20. कितनेजन - मालिक पूछे - तुम कितने जन यहाँ रहोगे तो वह वसति भी अकल्प्य

गा.1550 21. क्योंकि जिनकल्पी दूसरे की सूक्ष्म भी अप्रीति का त्याग करते हैं तथा ममत्व
बिना मालिक को ऐसा विचार नहीं आता अतः मुनि उसकी वसति वगैरह का
रक्षण न करे तो उसे अप्रीति हो अतः वसति का वर्जन करते हैं।

गा.1551 21. भिक्षा-चर्या - वे नियम से दूसरी पोरसी में ही भिक्षा के लिए जाते हैं। इसके
बारे में गा.1502 में कहे अनुसार अभिग्रह वाली होती है।

गा.1552 22. पानी - पानी भी 3रे प्रहर में ही, अन्य काल में नहीं क्योंकि अन्यकाल में
पानी का प्रयोजन नहीं होता। वे कभी भी सचित्त या धोवित पानी नहीं लेते

गा.1553 23. लेपालेप - सब्जी वि. लेपकृत द्रव्य जिसमें मिश्र न हो ऐसे क्वअलेपकृत क्योंकि ज्ञान के अतिशय से वे जान सकते हैं।
ओदनादि ही वे लेते हैं। अर्थात् लेपकृत से मिश्रित द्रव्य भी वे नहीं लेते।

गा.1554 24. अलेप - जो द्रव्य स्वभाव से सर्वथा ही अलेप हो, वह अलेपकृत द्रव्य, जैसे
जंगारी धान्य का ओसामण। अन्य आचार्य - जो द्रव्य सर्वथा लेपकृत
हो किन्तु अन्य के साथ mix होकर अलेप बने, वह भी अलेपकृत।

गा.1555 25. आचाम्ल - अलेपकृत द्रव्य भी खट्टे ग्रहण नहीं करते क्योंकि खट्टे द्रव्य से
प्यास लगती है, मल पतली दस्त लगती है (पतली दस्त से शरीर को साफ
करना पड़ता है) और वायु वि. का प्रकोप होता है। अतः वे उत्सर्ग से
ओदन वि. द्रव्य लेते हैं। अथवा शारीरिक प्रकृति के अनुकूल वात, पित्त लेते

गा.1556 26 प्रतिमा - वे मासादि प्रतिमा और 'खुजाल ना नहीं' वि. अभिग्रह नहीं स्वीकारते
हैं क्योंकि वे विशेष से अभिग्रह में ही हैं।

गा.1557 27. गा.1548 में 'जिनकल्प' शब्द का अर्थ - ये सूत्रादि द्वारा जिनकल्पी संबंधी
समाचारी। जिनकल्पी संबंधी ये सब विधि एकांत से है, अपवाद रहित है।

ON BOAR
STAG

गा. 1458 27. मासकल्प – एक क्षेत्र में एक मास तक रहे। भिक्षा के लिए घरों को क्रमण में बाँट दे। फिर अप्रतिबद्ध रूप से प्रतिदिन एक-एक गली में जाए।

(द्वार गा. 1426-28 पूर्ण)

अब प्रासंगिक कहते हैं –

गा. 1459 भिक्षा के लिए फिरते जिनकल्पी आधाकर्मादि दोष कैसे त्यागते हैं, तथा शिष्य के बोध के लिए अन्य भी जिनकल्पी संबंधी संक्षेप में कहूँगा।

गा. 1460 (द्वार) अभिग्रहवाले जिनकल्पी का योग होने से गृहस्थों को उनके प्रति श्रद्धा होती है। इसलिए वे उनके लिए भक्त और पानग्रहण तैयार करते हैं। जिस घर में आधाकर्मी बना हो, वहाँ 4 दिन तक संकल्प्य (1 दिन आधाकर्म + 3 दिन पूति)। फिर प्रश्नोत्तर। फिर जिनकल्पी एक बस्ती में उत्कृष्ट न होते हैं। ये सब क्रम से कहूँगा।

गा. 1461 तपसे सूखे हुए, महासत्त्वशाली जिनकल्प के अभिग्रह वाले मुनि को देखकर किसी श्राविका को संवेग से श्रद्धावाली कोई श्राविका कहे कि –

गा. 1462 मैं अधन्य हूँ। मैं क्या करूँ, ये मुनि यह वस्तु नहीं लेते। मेरे दूसरी कुछ अच्छी वस्तु नहीं है जिसे मैं शरमाए बिना दे सकूँ।

गा. 1463 जरूर कोई प्रयत्न करके इन मुनि को विपुल भोजन दूँगी। यह सुनकर उसे रोकने के लिए मुनि कहे –

गा. 1464 भ्रमर वृंद, गोकुल, पक्षी, शरद्-ऋतु के मेघ और साधुओं के स्थान अनियत होते हैं।

गा. 1465 फिर भी अनाभोग से उस श्राविका द्वारा भोजन बनाने पर वह मुनि उस गली को छोड़कर दीन हुए बिना और थके बिना क्रम से आई हुई अन्य गली में भ्रमण करे।

गा.1466 पहले दिन वह भोजन आधाकर्म होता है फिर तीन दिन तक वह घर शुद्ध होने से उस घर में अन्य कुछ भी नहीं कल्पता है। नु दिन बाद कल्प्य है।

गा.1467 यदि उन्होंने अवगाहिम (तला हुआ पक्वान्न) बनाया हो तो श्राविका सोचेगी- आज ये मुनि नहीं आए तो कल दूँगी। इस प्रकार दो दिन आधाकर्म होता है, फिर तीन दिन शुद्धि। इस प्रकार छट्ठे या सातवें दिन कल्प्य।

गा.1468 प्र. छट्ठे या सातवें दिन क्यों? उ. पहला दिन जब मुनि ने कुछ नहीं लिया था, दूसरा दिन आधाकर्म, फिर तीन दिन शुद्धि, इस प्रकार कुल 5 दिन अकल्प्य, छट्ठे दिन कल्प्य। यदि अवगाहिम बनाया हो तो दो दिन आधाकर्म होने से नवें दिन कल्प्य।

गा.1469 सातवें दिन वे मुनि यदि उस घर पर जाए तो वह श्राविका पूछे - कि -

गा.1470 आप उस दिन क्यों नहीं पधारे? मैंने आपके लिए ऐसे ही व्यय किया तो वह जिनकल्पी कहे -

गा.1471 'अनियत वसति' आदि गा.1464 जैसे ही।

गा.1472 प्र. यदि कोई गुप्त रीति से आधाकर्मादि आहार बनाए, तो उन्हें कैसे खबर पड़े?

गा.1473 उ. अतिशय श्रुतज्ञान के योग से वे जानते ही हैं।

गा.1474 इस प्रकार आधाकर्म और दोष शुद्धि का वर्जन करने के लिए जिनकल्पी एक गली में 7-7 दिन बाद ही जाते हैं, ऐसा उनका कल्प=आचार है।

गा.1475 इस प्रकार उन्हें अनियत विहार से विहारन में फिरता देखकर श्रद्धालु श्रावक भी आधाकर्मादि के आरंभ में प्रवृत्ति नहीं करते।

गच्छवासी यदि ऐसा न करे, तो भी उन्हें दोष नहीं है-

गा.1476 गच्छवासी साधुओं को आज्ञा का निमित्त होने (अर्थात् आज्ञा होनेसे) तथा गुर्वादि के निमित्त रोज मध्यस्थता से एक ही गली में जाए तो भी दोष नहीं है यदि उसे दोष नहीं दिखे तो।

प्रव. यह प्रासंगिक हुआ, अब प्रस्तुत विषय कहते हैं –

गा. 1477 इस प्रकार जिनकल्पी एक वसति में कितने रहते हैं तथा गली में भ्रमण करते हुए एक गली में कितने जाते हैं।

गा. 1478 एक वसति उत्कृष्ट से 7 जन रहते हैं। परस्पर ~~संभाषण~~ का किसी भी तरह से संभाषण का वर्जन करते हैं।

गा. 1479 एक गली में प्रतिदिन एक ही भ्रमण करते हैं। अन्य आचार्य - एक से अधिक भी भ्रमण करते हैं, परंतु यह मत युक्ति के सामने नहीं टिक सकता। क्योंकि –

गा. 1480 एक गली में एक से ज्यादा जिनकल्पी भिक्षार्थ न करे इसलिए ही तो 7 गली का विभाग कहा गया है। यदि जिनकल्पी का परस्पर एक गली में संघट्टा होगा तो प्रवचन को अवश्य क्षोभ नहीं होगा।

गा. 1481 प्र. वे एक-दूसरे से बोले बिना गली कैसे जानेंगे? उ. वे ज्ञान के अतिशय से गली के विभाग को जानते ही हैं। (द्वार गा. 1460 पूर्ण)

प्रव. उपसंहार –

गा. 1482 जिनकल्पियों की सामाचारी संक्षेप से कही। अब उनकी क्षेत्रादि स्थिति को कहूँगा।

गा. 1483 (द्वार) 1. क्षेत्र 2. काल 3. चारित्र 4. तीर्थ 5. पर्याय 6. आगम 7. वेद 8. कल्प 9. लिंग 10. लेश्या 11. ध्यान 12. गणना 13. अभिग्रह

गा. 1484 (द्वा) 14. प्रव्राजना 15. मुंडन 16. प्रायश्चित - यदि मन से भी दोष हो तो 'अनुद्घात चतुर्गुरु' नामक प्रायश्चित 17. कारण 18. निष्प्रतिकर्मता 19. भक्त 20. पेथ - जिनकल्पी तीसरे प्रहर में आहार-विहार करते हैं।

गा. 1485 1. क्षेत्र - 2 प्र. जन्म से और सद्भाव से मार्गणा (विचारणा)। जिस क्षेत्र में जन्म हो वहाँ जन्म से मार्गणा और जिस क्षेत्र में कल्प=आचार हो वहाँ सद्भाव से मार्गणा

गा.1486 जन्म से और सद्भाव से जिनकल्पी भरतादि सभी कर्मभूमि में होते हैं।
संहरण से तो सद्भाव का अन्यथाकर कर्म और अकर्मभूमि में भी होते हैं।

गा.1487 2. काल (i) अवसर्पिणी में (a) जन्म से सुषमदुषम (3रे आरे में) और दुष्षमसुषम (चौथे में)
(b) सद्भाव से तीसरे, चौथे और दुष्षम (5वें आरे में)
(ii) उत्सर्पिणी में ऊपर से विपरीत
(a) जन्म से दुष्षम (2रे), दुष्षमसुषम (3रे) और सुषमदुष्षम (4थे) आरे में
(b) सद्भाव से 3रे और 4थे आरे में)

गा.1488 उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रहित काल्यशून्य क्षेत्रों में से (a) अबाधित दुष्षमसुषम (4थे) आरे के काल वाले महाविदेह में (b) जन्म और सद्भाव से।
(ii) संहरण की अपेक्षा से सद्भाव से उत्तरकुरु वि. सभी क्षेत्र में होते हैं।

गा.1489 3. चारित्र - प्रथम सामायिक और द्वितीय छेदोपस्थाप्य चारित्र में ही जिनकल्प स्वीकारा जाता है। स्वीकारने के बाद योग विशुद्ध होने से वे उपशमश्रेणि में सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर सकते हैं।
(वे उसी भव में मोक्ष में नहीं जाते, इसलिए उन्हें क्षपक श्रेणि नहीं होती।)

गा.1490 पहले और अंतिम तीर्थंकर के शासन में छेदोपस्थाप्य और बीच के 22 तीर्थंकरों के शासन में सामायिक चारित्र में जिनकल्प स्वीकारा जाता है क्योंकि वहाँ छेदोपस्थाप्य चारित्र नहीं होता। फिर विशुद्धि के योग से सूक्ष्मसंपराय या यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करते हैं।

गा.1491 4. तीर्थ - जिनकल्पी हमेशा तीर्थ में ही होते हैं। तीर्थ छेद होने के बाद या तीर्थ उत्पन्न होने के पहले जातिस्मरणादि कारणों से भी कोई जिनकल्प नहीं स्वीकारता।

गा.1492 5. तीर्थ न होने पर भी मरुदेवी माता वि. जैसे अधिक गुणस्थानों को प्राप्ति होती है तो जिनकल्पी क्यों नहीं होते?

3. वीतराग भ. ने जिनकल्पी की ऐसी ही मर्यादा बताई है। इसमें कोई युक्ति नहीं है।

1493 5. पर्याय - यहाँ पर्याय गृहस्थ और साधु के भेद से 2 प्रकार का है। दोनों के जघन्य और उत्कृष्ट 2-29 हैं।

1494 जिनकल्पी का जघन्य ~~पर्याय~~ गृहस्थ पर्याय 29 साल और साधु पर्याय 20 साल है। उत्कृष्ट पर्याय गृहस्थ और साधु को देशोन पूर्व कोटी वर्ष।

1495 6. आगम - जिनकल्पी वर्तमान जन्म में नया श्रुत नहीं पढ़ते हैं क्योंकि वे प्रकृष्ट योग की आराधना से ही कृतकृत्य हैं।

1496 पहले पढ़े हुए श्रुत को प्रायः रोज एकाग्रमन से स्मरण करते हैं क्योंकि श्रुत अशुभध्यान के क्षय का ~~हेतु~~ हेतु है।

1497 7. वेद - जिनकल्प स्वीकारते समय स्त्रीवेद सिवाय पु. या नपुं वेद वाले ही होते हैं, ये वेद शुद्ध-असंक्लिष्ट होते हैं। स्वीकारने के बाद अध्यवसाय के भेद से वेद सहित या वेद रहित भी होते हैं।

1498 उपशम श्रेणि में वेद का उपशम होने पर वेदरहित होते हैं। उन्हें वेद का क्षय नहीं होता क्योंकि जिनकल्पी को उसी भव में केवलज्ञान नहीं होता।

1499 8. कल्प - वे स्थित या अस्थित दोनों कल्प में होते हैं। आचेलक्यादि 10 कल्पों में से पहले और अंतिम तीर्थंकर के साधु सभी साधु स्थित (नियत) होने से इनका स्थितकल्प है। मध्य के 22 तीर्थंकरों के साधु शय्यातर, राजपिंड, कृतिकर्म और ज्येष्ठ पद, इन 4 में नियत है बाकी 6 में अनियत इसलिए वे अस्थित कल्प वाले हैं।

1500 10 कल्प के नाम - आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातरपिंड, राजपिंड, कृतिकर्म व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, पर्युषणा।

गा.1501 9. लिंग- द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के लिंग से युक्त मुनि जिनकल्प का स्वीकार करते हैं। स्वीकारने के बाद भावलिंग यानि चारित्र परिणाम अवश्य होता

गा.1502 द्रव्य लिंग जीर्ण होने, हरण होने वि.कारणों से कभी नहीं भी होता है। द्रव्यलिंग बिना भी अप्रमाद के अभ्यास से उन्हें भाव की हानि नहीं होती।

गा.1503 10. लेश्या- तैजसवि. तीन विशुद्ध लेश्या में ही जिनकल्प स्वीकारते हैं। स्वीकारने के बाद कभी कर्म की विचित्रता से उन्हें शुद्ध-अशुद्ध सभी 6 लेश्या होती है,

गा.1504 ऐसा होने पर भी अतिसंक्लिष्ट लेश्या में नहीं होते। अशुद्ध लेश्या में वर्तते जिनकल्प ही रहते हैं। कर्मविचित्रता से अशुद्ध लेश्या में होने पर भी वीर्य यानि पुरुषार्थ करते हैं। अशुद्ध लेश्या होने पर भी फिर से चारित्र की शुद्धि हो जाती है

गा.1505 11. ध्यान- मुनि प्रवर्द्धमान ऐसे धर्मध्यान से ही जिनकल्प स्वीकारते हैं। स्वीकारने के बाद आर्तादि सभी ध्यान होते हैं।

गा.1506 इस प्रकार कुशल योग होने पर भी तीव्र कर्म के परिणाम से वे रौद्र-आर्त ध्या भी करते हैं किन्तु ये ध्यान अल्प होने से निरनुबंध होते हैं।

गा.1507 12. गणना- स्वीकारते हुए जिनकल्पी की उत्कृष्ट गणना सहस्रपृथक्त्व।

गा.1508 स्वीकारने के बाद योग्य क्षेत्र में जिनकल्पी की उत्कृष्ट और जघन्य गणना सहस्रपृथक्त्व किन्तु जघन्य का सहस्रपृथक्त्व शेष न समझना। जघन्य एक।

गा.1509 13. अभिग्रह- इन्हें इत्वर कालीन द्रव्यादि अभिग्रह नहीं होते क्योंकि यावत्कथिक जिन कल्प ही अभिग्रह है।

गा.1510 गोचरी वि. सभी आचार नियत और निरपवाद है अतः उनका पालन ही विशुद्धि का श्रेष्ठ स्थान है। अन्य अभिग्रहों से क्या?

गा.1511 14. प्रव्राजन- ये जिनकल्पी कभी किसी को दीक्षा नहीं देते क्योंकि (i) उनका यह जीत कल्प है,
(ii) ऐसी जिनाज्ञा है (iii) चरम कालत्व अनशन लेने वाले की तरह ये सर्वथा निरपेक्ष होते हैं।

गा. 1512 कोई दीक्षा लेने योग्य जीव को उपदेश देकर, जो गुणों से एकदम नजदीक हो ऐसे गच्छ को सौंपे किंतु दिशादि (अर्थात् गण, कुल, समुदाय) से नजीक को नहीं।

गा. 1513 15. मुंडन - वे मुंडन नहीं करते। प्र. प्रव्रज्या के बाद अवश्य लोच होता है तो पृथक् उपादान क्यों?

गा. 1514 उ प्रव्रज्या के बाद यह अवश्य नहीं होता क्योंकि यदि दीक्षा के बाद वह अयोग्य लगे तो मुंडन का निषेध है।

गा. 1515 16. प्रायश्चित्त (मन द्वारा किए पाप का) - मन से सूक्ष्म अतिचार लगने पर भी कम-से-कम चतुर्गुरु प्रायश्चित्त। जिनकल्पी को होता है।

गा. 1516 क्योंकि यह कल्प चरम श्मशान जैसा है तथा अप्रमाद से एकाग्रता की प्रधानता वाला है अतः इसके भंग में बड़ा दोष होता है।

गा. 1517 17. कारण - कारण यानि आलंबन। जिनकल्पी को सुविशुद्ध ज्ञानादि आलंबन नहीं होते क्योंकि वे तप की प्रकृष्ट साधना करते हैं जिससे मनुष्य जन्म का उत्तम फल सिद्ध होता है।

गा. 1518 निकाचित कर्मों के क्षय के लिए सर्वत्र निरपेक्ष बनकर स्वयं द्वारा आरब्ध कल्प को दृढ़ता से पूर्ण करते हैं।

गा. 1519 18. निष्प्रतिकर्मत्व - जिनकल्पी एकांत से शरीर की सारसंभाल रहित तथा आँख का मैल वि. भी दूर नहीं करते। अत्यंत भयंकर शरणागत कष्ट में भी उपचार नहीं सेवते।

गा. 1520 वे अल्पबहुत्व की विचारणा रहित होते हैं अर्थात् कभी ऐसा नहीं सोचते कि ऐसा करने से अल्प या ऐसा करने से बहु लाभ है। तत्त्व से शुभभाव के कारण से यह कल्प ही बहु लाभ वाला है।

गा. 1521 19. 20. अनाउंट पंथ- पथ - ये तीसरी पोरसी में ही भिक्षा और विहार करते हैं। बाकी में कायोत्सर्ग। प्रायः अल्प निद्रा होती है।

गा. 1522 जंघाबल क्षीण होने पर भी उसी क्षेत्र में रहकर ये कल्प का पालन करते हैं। कभी भी दोष का सेवन नहीं करते। (द्वार गा. 1483-1484 पूर्ण)

शुद्ध परिहारिक कल्प तथा क्षेत्रादि स्थिति

भग. जिनकल्प के बाद अन्य कल्प कहते हैं –

गा. 1523 जो भावनादि विधि जिनकल्प की कही, वही शुद्ध परिहारिक और यथालंद कल्प में भी जानना। ~~जो विशेष अंतर है, वह कहते हैं –~~

अब. शुद्ध परिहारिक कल्प – (जिनकल्प से अंतर)

अ॥ पहले 9 साधु कल्प स्वीकारते हैं। उनमें से यदि एक छोड़ता है तो दूसरा आ

गा. 1524 ता है। तप – ये सभी ~~चरित्र~~ तप का अभ्यास अपेक्षित से करते हैं। परिहारिक दो प्रकार के (i) इत्वर – जो कल्प पूर्ण होने पर गच्छ में आ जाते हैं (ii) यावत्कथिक – जो कल्प पूर्ण होने पर जिनकल्प स्वीकारते हैं।

गा. 1525 शुद्ध परिहारिक को कल्प समाप्त होने पर उत्थान है (i) गच्छ में (ii) जिनकल्प में या (iii) फिर परिहार कल्प में जाए।

गा. 1526 इत्वर शुद्ध परिहारिक को उपसर्ग, आतंक, वेदना कल्प के प्रभाव से नहीं होते। यावत्कथिक परिहारिक को होते भी हैं, नहीं भी होते क्योंकि जिनकल्प में होते हैं जिनकल्पी जैसी ही गाँव के 6 भाग वि. व्यवस्था इनकी भी होती है।

क्षेत्र. शुद्ध परिहारिक कल्प संक्षेप से कहा। अब क्षेत्रादि स्थिति कहूँगा –

गा. 1527-8 द्वार गा. 1483-1484 जैसी ही।

गा. 1529 (द्वार) 1. क्षेत्र – शुद्ध परिहारिक भरत-ऐरावत क्षेत्र में ही होते हैं। इनका कभी संहरण नहीं होता।

2. काल – (i) अवसर्पिणी में जन्म से 3-4 आरे में, सद्भाव से 3-4-5 आरे में।

(ii) उत्सर्पिणी में जन्म से 2-3-4 और सद्भाव से 3-4 आरे में।

नो अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में नहीं होते।

गा. 1530 3. चारित्र – सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र के जघन्य संयम स्थान तुल्य हैं। जघन्य संयम स्थान से असंख्य लोकाकाश प्रदेश जितने संयम स्थान व्यतीत होने के बाद परिहारिक चारित्र के संयमस्थान हैं।

गा. 1531 परिहारिक संयम स्थान भी असंख्य हैं। वे ही संयम स्थान विशुद्ध ऐसे सामायिक-छेदो

यथालंदिक कल्प

स्थाप्य चारित्र के भी हैं। उनके ऊपर भी विशेष शुद्ध सामायिक-छेदोपस्थाप्य के स्थान हैं।

गा. 1532 कल्प स्वीकारते समय मुनि परिहार के संयमस्थान में होते हैं। स्वीकारने के बाद वे ऊपर के संयम स्थान में भी हो सकते हैं। ...।

गा. 1533 8. कल्प- वे हमेशा स्थित कल्प में ही होते हैं, अस्थित में नहीं।

9. लिंग- द्रव्य और भाव दोनों लिंग अवश्य होते हैं।

10,11. लेश्या-ध्यान- दोनों जिनकल्प समान।

गा. 1534 12. गणना- 2 से (i) गण (9 साधु = 1 गण) (a) स्वीकारने में - जघन्य 9 गण उत्कृष्ट शत-पृथक्त्व।

(b) स्वीकृत- जघन्य+उत्कृष्ट दोनों शतपृथक्त्व किंतु जघन्य वाला कम जानना।

गा. 1535 (ii) पुरुष (a) स्वीकारने में जघन्य 27, उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व।

(b) स्वीकृत- जघन्य शतपृथक्त्व, उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व।

गा. 1536 स्वीकारने में पुरुष जितने से 9 का गण पूर्ण हो उतने 1,2,3... हो सकते हैं। स्वीकृत में भी जितने निकल गए हो, उससे शेष बचे। या पृथक्त्व हो सकते हैं।

गा. 1537 इस प्रकार जिनकल्प और परिहारिक का अंतर कहा। अब यथालंदिक का अंतर कहूँगा।

अब यथालंदिक कल्प- (जिनकल्प से अंतर)

गा. 1538 लंद यानि काल। यह शास्त्री य परिभाषा है। वह सामायिक का काल 3 प्र. जघन्य मध्यम उत्कृष्ट। जघन्य- गीले हाथ सूखे उतना।

गा. 1539 उत्कृष्ट- पूर्वकोटी वर्ष। मध्यम- बीच के सभी। यहाँ उत्कृष्ट यथालंद काल 5 अहोरात्र लेना क्योंकि इससे उपयोग है।

गा. 1540 भिक्षा के लिए गली में दो दिन तक घूमे, वह यथालंदी कहा जाता है। 5 साधु का ही गच्छ होता है।

गा. 1541 जिनकल्प में जो भावनादि रूप मर्यादा कही, वही यथालंदिक की भी जानना। सूत्र, भिक्षाचर्या और वास कल्प में भेद है। वह कहते हैं-

गा. 1542 यथालंदी- 2 प्र. (i) गच्छ प्रतिबद्ध (गच्छ के साथ संबंध वाले) (ii) गच्छ अप्रतिबद्ध।

* गच्छवासी बड़ील साधुओं उन्हें वंदन करते हैं।

यथालंदिक साधु की सामाचारी

PAGE NO.
DATE

प्रत्येक के दो-दो प्रकार - (a) जिन - जो मध्यम कल्प समाप्त होने पर जिनकल्प स्वीकारेंगे (b) स्थविर - जो स्थविर कल्प में वापस आएँगे। गच्छ के साथ संबंध का कारण - अर्थ का कुछ भाग गुरु के पास बाकी रहने से वे जिन गच्छप्रतिबद्ध रहते हैं।

गा. 1543 कल्प स्वीकारने के लिए जब श्रेष्ठ लग्न, योगादि हो तब यदि थोड़ा अर्थ बाकी हो भी कल्प स्वीकारे (यदि दूसरा कोई श्रेष्ठ मुहूर्त पास में न हो तो)। फिर गुरु जिस क्षेत्र में हो, वे वहाँ से बाहर रहकर बाकी अर्थ पढ़े। कैसे? - गुरु उनके पास जाकर उन्हें अर्थ बताए।

गा. 1544 प्र. आचार्य इनके पास क्यों जाए? उ. क्योंकि यथालंदी गुरु के क्षेत्र में आए तो उन्हें दोष लगता है। यथालंदिक गुरु सिवाय किसी भी बड़ील को वंदन नहीं करते (ऐसी उनकी मर्यादा है) इसलिए यदि वे गुरु के क्षेत्र में आए और बड़ीलों को वंदन नहीं करे तो लोक में निंदा हो कि ये साधु लोकव्यवहार भी नहीं जानते या गच्छ में रहे साधु शील रहित हैं। *1

गा. 1545-6 यदि आचार्य वहाँ जाने में समर्थ न हो तो ~~आचार्य~~ यथालंदी अंतरपल्ली क्षेत्र में (गुरु के क्षेत्र से 1 गाउ दूर) आए और आचार्य वहाँ जाकर अर्थ पढ़ाए। यदि ऐसा भी संभव न हो तो प्रतिवृषभ गाँव (2 गाउ दूर), वह भी संभव न हो तो गुरु के क्षेत्र के बाहर कोई वसति में, वह भी संभव न हो तो गुरु के क्षेत्र में कोई अन्य वसति में, वह भी संभव न हो तो गुरु की वसति में जाकर गुरु से अर्थ पढ़े तथा जहाँ कोई न देखे ऐसे स्थान में सभी साधु यथालंदी को वंदन करे। इस प्रकार शेष अर्थ पढ़कर यथालंदी गच्छ से अप्रतिबद्ध बने और उसी कल्प का पालन करे।

गा. 1547 गच्छप्रतिबद्ध या अप्रतिबद्ध जिन यथालंदी कोई भी रोग की चिकित्सा नहीं करते, प्रतिशेष अपुप्राप्त से नेत्रमल भी दूर नहीं करते, शरीर की सार संभाल नहीं करते।

गा. 1548 स्थविर यथालंदी कल्प पालने में असमर्थ साधु को गच्छ को सौंप देते हैं। गच्छवासी साधु गौचरी आदि से उसकी सार संभाल करते हैं।

1549 स्थविर यथालंदी एक पात्रधारी और सवस्त्र होते हैं। जिनकल्पी यथालंदी यदि करपात्री जिनकल्प स्वीकारने वाले हो तो वस्त्रपात्र नहीं रखते, यदि पात्रधारी होना हो तो वस्त्र पात्र रखते हैं।

1550 गणना - (i) गण - जघन्य 3 गण, उत्कृष्ट शतपृथक्त्व।
(ii) पुरुष - " 15 " सहस्र पृथक्त्व।

1551 स्वीकारने में 2 जघन्य 1, उत्कृष्ट शतपृथक्त्व।

1552 स्वीकृत में जघन्य+उत्कृष्ट दोनों कोटि पृथक्त्व। उत्कृष्ट प्रमाण अधिक जानना।

1553 इस प्रकार जिन वचन में यथोक्त यह अभ्युद्यत विहार संलेखना तुल्य है।

1554-71 जिनकल्प या स्थविरकल्प दोनों में श्रेष्ठ कौन? चर्चा।

→ इस प्रकार गा. 1370 में कहागया अभ्युद्यत विहार का वर्णन पूर्ण हुआ। गा. 1376 में कहे गए अभ्युद्यत विहार के 3 भेद भी पूर्ण हुए।

1572 (गा. 1376) धीर तीर्थंकरों द्वारा अभ्युद्यत मरण 3 प्रकार कहागया - पादपोपगमन, इंगितमरण, भक्त परिज्ञा।

1573 पादपोपगमन छोड़कर शेष दो प्रायः संलेखना पूर्वक होते हैं। अतः पहले संलेखना, फिर क्रम से अभ्युद्यत मरण कहूँगा।

अब. संलेखना -

1574 पहले 4 साल छट्ठ छ. विविध करे। फिर 4 साल तक वे ही तप बिगई लगाये बिना करे। फिर 2 साल तक एकांतरे आयंबिल-उपवास करे।

1575 फिर 6 महिने उपवास वि. तप करे, अति विकृष्ट यानि लेप तप न करे। पारणे में परिमित द्रव्य वाला आयंबिल करे। शुक्लध्यान होने पर (वायु से जबड़े का function काम होने पर) तैल के कुल्ले करे। फिर 6 महिने अष्टमादि विकृष्ट तप करे।

1576 एक साल कोटिसहित आयंबिल करे। यदि 12 साल तक ऐसा करने की शक्ति या आयुष्य न हो तो संघयण प्रमाणे 6 साल या 3 साल तक ऐसा तप करे।

संलेखना नहीं करने के दोष

कोरीसहित पच्चक्खाण का अर्थ - जहाँ दो Corna एक ही हो, उसे कोरीसहित पच्चक्खाण कहते हैं जैसे - उपवास के बाद दूसरे उपवास का पच्चक्खाण ले तो कल का उपवास और आज का उपवास एक हो जाने से वह पच्चक्खाण कोरीसहित कहा जाता है। इसी प्रकार आयंबिल, निवि वि. जानना।

अट्ठमादि तप में कोरी 2 प्र. से - (i) अट्ठम के बाद फिर से अट्ठम करे (ii) अट्ठम के तीसरे दिन पाणाहार का पच्चक्खाण ले तब भी कोरी कहा जाता है। उपवास के बाद आयंबिल, फिर उपवास - आयंबिल इस प्रकार विषम तप भी बार-बार करे, वह भी कोरी सहित कहा जाता है।

यहाँ संलेखना में आयंबिल का अधिकार है।

अब. संलेखना नहीं करने से दोष -

गा. 1577 देह असंलेखित होने पर जीव का प्रयाण समय में क्षीयमाण धातुओं द्वारा उत्पन्न आर्तध्यान - समाधि हो जाती है।

गा. 1578 शास्त्रोक्त विधि से धीरे-धीरे क्षीयमाण धातुओं द्वारा यह संसार रूपी वृ के बीज समान आर्तध्यान नहीं होता।

गा. 1579 संलेखना से धातुक्षयरूप विपक्ष अल्प होने से शुभभाव को क्षयोपशम नहीं होती क्योंकि बलवान् और बड़े शुभभाव से दुःख थोड़ा हो जाता है

गा. 1580 प्रतीकार सहित (अंतिम वर्ष में त्यागतार आयंबिल होने से शरीर की पुष्टि के कारण) और सदा शुभभाव वर्त्या होने से उचित अज्ञा के संपादन से यह धातु का उपक्रमण (= प्रयत्नपूर्वक क्षय) अधिक बलवान् जानना।

गा. 1581 बाह्य मांसादि और आभ्यंतर (अशुभपरिणामादि का उपक्रमण (क्षय) इस संलेखना में होता है।

गा. 1582 जैसे बहुत बड़ा सैन्य एक शूर को जीत जाता है, वैसे मांसादि का प्रचुर

क्षय जीव को शुभ योग से गिरा देती है इसलिए उन्हें धीरे-धीरे क्षीण किया जाता है।

गा. 1583-1592 पूर्वपक्ष- यह संलेखना तो आत्महत्या समान होने से योग्य नहीं है।
उत्तर- यह आत्महत्या नहीं जिनाज्ञा का पालन है। चर्चा

→ विशेष- गा. 1588- जो इस जन्म में कृतकृत्य है (जिसकी जवाबदारी पूर्ण हो गई है) तथा मात्र शुभ मरण ही जिसे बाकी है, उसे ही यह संलेखना शुरू होती है।

गा. 1593 - 1714 तक पिंडनिर्युक्ति की Note में।

उ.वे.9, 2072 Kurala, Banaskantha | दि. 28/7/2016

अ.व. 9, 2072
Kuvala

श्री पंचवस्तुक ग्रंथ Summary.

(कर्ता-श्री हरिभद्र सू.म. स्वोपज्ञ टीका)

[गा. 1593-1714 तक] अनशन स्वीकारने वाले की भावना

गा.1593 संलेखना करने वाला आगमानुसार धर्मध्यानादि योग से आंतर कषायादि भावों को संलेखना (कृश) करते हैं। और परमार्थ की भावना ओं से बोधि के अवंध्यकारणों को बढ़ाते हैं।

अव. भावना –

गा.1594 इस अंतिम समय में भावितात्मा वाले वे अतिशय से संसाररूप महासमुद्र के निर्गुणत्व = असारता को भावित करते हैं।

गा.1595 भवसमुद्र जन्म-जरा-मरण रूप पानी वाला, अनादिमान् = अगाध, संवर्त रूप हिंसक प्राणियों से व्याप्त, जीवों के दुःख का कारण है।

गा.1596 मैं धन्य हूँ, जिससे इस भवसमुद्र में सैकड़ों भव में दुर्लभ ऐसा सद्धर्म रूपी जहाज मेरे द्वारा प्राप्त किया गया।

गा.1597 विधिपूर्वक पालन करते इस धर्मजहाज के प्रभाव से जीव जन्मांतर में भी दुःख की प्रधानता वाली दुर्गति को प्राप्त नहीं करते।

गा.1598 यह सद्धर्म अचिंत्य मुक्ति का साधन होने से अपूर्व चिंतामणि, अकल्पित फल देने से अपूर्व कल्पवृक्ष, रागादि विष का नाश करने से परम मंत्र और अमृत्यु का अवंध्य हेतु होने से परम अमृत्त समान है।

गा.1599 जिनके प्रभाव से मेरे द्वारा धर्म जहाज प्राप्त किया गया और विघ्न बिना पालन किया गया, ऐसे गुर्वादि महानुभावों की सम्यक् वैयावृत्य मैं इच्छता हूँ।

गा.1600 स्वयं पर उपकार नहीं करने वाले जीवों के भी हित में रत जो गुरु यह धर्म जीवों को देते हैं, उन्हें अंतःकरण से नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

गा.1601 भव्यजीवों के लिए हितकारक धर्म सिवाय अन्य कोई वस्तु तीनों लोक में नहीं है क्योंकि धर्म जहाज से ही भव समुद्र पार होता है।

गा.1602 यहाँ भव समुद्र में देवलोकादि सभी स्थान संयोग-वियोगादि सैकड़ों दुःखों से युक्त हैं,

भावना का फल - अकरण नियम तथा अनुबंध ह्रास आदि

गा. 1603 प्रहाकष्ट से प्राप्त हुए मनुष्यजन्म में भी जीव को अत्यंत - 105
-दुःख रूप फल देने वाले संसार समुद्र में रति होती है, इससे ज्यादा कष्ट और क्या -
- हो सकता है?
इसलिए ही वे सभी प्रकार से पाप रूप हैं तथा अत्यंत रौद्र अनुबंध वाले हैं।

गा. 1604-5 इसी प्रकार प्रवचन के सारभूत तथा संवेग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म पदार्थों को विचारे, जिनसे अकरण नियम और अनुबंध ह्रास विशुद्ध फल प्राप्त होते हैं।

उप. भावना का फल -

गा. 1604-5 अकरण नियम - दूसरे पाप में गिराने का प्रयत्न करे तो भी प्रशस्त भावनाओं के चिंतन से जो पाप त्याग स्वयं होता है, वह अकरण का अनुबंध हेतु है।
(अकरणनियम - पाप त्याग के बाद आपत्ति में भी उस पाप का सेवन नहीं करना)

गा. 1606 अनुबंध ह्रास - जो अनुष्ठान शास्त्र से शुद्ध है, पूर्वापर योग से संगत है, तीन कोटी से शुद्ध है, वह अनुष्ठान सुवर्ण घट समान है तथा इष्ट फलदाता यानि मोक्ष की साधना के अनुबंध वाला है। (सोने का घड़ा फूटने के बाद भी काम में आता है,
गा. 1607 जो अनुष्ठान परिशुद्ध नहीं है, वह मिट्टी के घड़े समान असार है तथा मात्र फल साधक है, अनुबंध वाला नहीं है। मिट्टी का " " " काम में नहीं आता)

~~उक्त.~~ ~~सारे की विधि~~

गा. 1608 वे अनाभोग से होने वाले, सूक्ष्म अतिचार/अपवादों को भी प्रतिपक्ष भावना से छोड़ देते हैं।

गा. 1609 इस प्रकार भावना से उल्लासित वीर्य-परिणाम वाले वे कभी श्रेणि तथा केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जिससे वे अमर हो जाते हैं।

गा. 1610 यदि श्रेणि प्राप्त नहीं करते तो भी संवेग भावना से युक्त मुनि अन्य जन्म में अवश्य सुगति और जिनधर्म तथा बोधि प्राप्त करते हैं। कैसे? →

गा. 1611 यहाँ जिस शुभ भावना से जीव अतिशय भावित होता है, जन्मान्तर में भी उसी प्रकार के भाव से वह युक्त होता है।

गा. 1612 जैसे वासित तिल का तैल भी सुगंधी होता है, वैसे शुभ भाव की वासना के सामर्थ्य से जीव को जन्मांतर में भी बोधि लाभ होता है।

पादपोपगमन अनशन विधि
इंगितमरण अनशन विधि

PAGE :
DATE : / /

अब पादपोपगमन अनशन स्वीकारने की विधि-

गा. 1613 इस प्रकार द्रव्य और भाव से आत्मा को संलेख कर, ग्रहण किए हुए कृत्यकादि वापस देकर, गुर्वादि को संवेग से सम्यक् खमाकर,

गा. 1614 गुर्वादि बड़ील से अन्य को 'संयोग वियोगवाला है, धर्म में उद्यम करना चाहिए' वि. हितशिक्षा देकर

गा. 1615 यथाविधि देव वंदन, गुरु वि. को वंदन कर, गुरु से सभी आहार का पच्चक्खाण लेकर

गा. 1616 आत्मा को समभाव में स्थित कर सिद्धान्तोक्त मार्ग से ही निरीह होकर गिरि की गुफा में जाकर स्वयं पेड़ की चेष्टा रूप पादपगमन स्वीकारे।

गा. 1617 समभाव से सर्वत्र अप्रतिबद्ध वे महात्मा स्थंडित्व भूमि में ठूंठ जैसे सीधे, निश्चेष्ट, वृक्ष समान यावज्जीव खड़े रहे। यावत् वे आँख की पलक भी न हिलाए।

गा. 1618 निश्चलपद (मोक्ष) के परम कारणरूप यह अनशन शुभभाववाले और प्रायः प्रथम संघयण वाले महानुभाव मुनि ही करते हैं।

गा. 1619 वीतराग प्रभु द्वारा यह पादपोपगमन अनशन 2 प्र. को कहा गया है (i) निर्व्याघातवद् = व्याघात बिना काल धर्म होने वाला; (ii) सव्याघातवद् = सिंहादि व्याघात से काल-धर्म होना

गा. 1620 कोई गीतार्थ सिंहादि से व्याघात होने पर आयुष्य बाकी जानकर पादपगमन अनशन स्वीकारे, वह सव्याघातवद् अनशन। पेड़ के (पादपं उपगच्छति = पादपोपगमनं)

अब इंगितमरण की विधि-

गा. 1621 जो मुनि संहनन के अभाव से पादपगमन करने में समर्थ नहीं बने हैं, वे आयु के अनुसार थोड़े काल संलेखना कर

गा. 1622 मन को संवेग से भावित कर, आलोचना से आत्मा को निःशल्य कर, स्वयं की शक्ति अनुसार विधिपूर्वक इंगितमरण या भक्त परिज्ञा करे।

भक्त परिज्ञा अनशन विधि (1)

5 अशुभ भावना
कांदर्पी भावना

PAGE : 107
DATE : / /

गा. 1623 इंगितमरणविधि- दीक्षा से अभी तक के सभी दोषों की आलोचना करे। संघादि अनुसार और आयुष्यानुसार द्रव्य और भाव से संलेखना करे।

गा. 1624 गुरु के पास चारों आहार का पच्चक्खाण अवश्य करे, तीन आहार का नहीं। इंगित= परिमित क्षेत्र में वह इंगित= परिमित चेष्टा भी कर सकते हैं।

गा. 1625 काया से करवट बदल सकते हैं। प्रकृति के अनुसार मात्रु वि. करे या न करे। पाँवों को वि. स्वयं के कार्य अवश्य स्वयं ही करे। धैर्यरूपी बल वाले रहे।

भक्त परिज्ञा विधि-

गा. 1626 तीसरे अनशन रूप भक्त परिज्ञा में भी दीक्षा से लेकर आज तक के दोषों की आलोचना करे। पहले भले ही परलोक प्रति संवेग वाला न हो किंतु अब तो संवेग युक्त वाला बनकर आलोचना ले।

गा. 1627 अनशन स्वीकारने वाले, उत्पन्न बीर्य वाले ये मुनि अशुद्ध, संक्लिष्ट भावनाओं को विशेष छोड़े। उस संक्लेश से आराधना को प्राप्त करे।

गा. 1628 (द्वार) कांदर्पी, कैल्बिषिकी, आभियोगिकी, आसुरी, सम्मोहनी, ये पाँच प्रकार की संक्लिष्ट भावना कही गई है। उन-उन स्वभाव का अभ्यास= भावना।

गा. 1629 जो व्यवहार से साधु होकर भी भाव की मंदता से इन अप्रशस्त भावनाओं में वर्तता है, वह द्रव्य-चारित्र से भी हीन, ऐसा कंदर्पादि उन-उन देवों के प्रकारों में उत्पन्न होता है।

सूत्र. 1. कांदर्पी भावना के 5 प्र.

गा. 1630 (प्रतिद्वार) (i) कंदर्प (ii) कौकुच्य (iii) दर्पशील (iv) हासकर (v) दूसरे को विस्मित करता विस्मापक, ये 5 से युक्त जीव कांदर्पी भावना करता है।

गा. 1631 (i) कंदर्प- अट्टहास्य= मुख विकृत कर जोर से हँसना, स्वयं अनुरूप व्यक्ति के साथ हँसी मजाक करना गर्वादि के साथ भी कठोर वचन- वक्रोक्ति वि. संलाप

कौल्बिषिक भावना

PAGE
DATE / /

करना, कंदर्पकथा (काम कथा) कहना, काम का उपदेश देना, काम की प्रशंसा करना - ये सब जो करता है, ~~वह~~ इसे कंदर्पवाला जानना।

गा. 1632 (ii) कौकुच्य - आँखों की भवें वि. देह के अवयवों, हास्यकारक वचनों द्वारा मोहरूप दोष से ऐसी चेष्टा करे कि देखने वाला जोर-जोर से हँसे, स्वयं जैसे कुछ हुआ ही नहीं वैसे हँसे बिना ही रहे; जो इस प्रकार करता है, वह कौकुच्य वाला है।

गा. 1633 (iii) द्रुतदर्पशीलत्व - जो सोचे बिना जल्दी-जल्दी बोले, शरद्ऋतु में पागल हुए बैल की तरह जल्दी चले, सब काम सोचे बिना जल्दी करे, बैठे-बैठे भी बल और रूप से अभिमान करे, वह द्रुतदर्पशील है।

गा. 1634 (iv) हासकर - बरतन में जैसे दूसरों के छिद्र (खोजना वि. की इच्छा) देखने वाला विचित्र प्रकार के वेषवचनों द्वारा स्वयं को और ~~मात्र~~ दूसरों को हास्य उत्पन्न करने वाला हासकर कहा जाता है।

गा. 1635 (v) विस्मापक - जो मूर्खप्राय ग्राम्यलोगों को इंद्रजालादि कौतुकों द्वारा विस्मित करे, स्वयं विस्मित न हो, वह। (1. कांदर्पी भावना पूर्ण)
प्रतिद्वार गा. 1630 पूर्ण

~~गा. 1634~~ उप. 2. कौल्बिषिक भावना के 5 प्र.

गा. 1636 (प्रतिद्वार) (i) ज्ञान (ii) वीतराग-केवली (iii) गुरु (iv) सभी साधु के अवर्णवाद (v) मायावी।

गा. 1637 (i) ज्ञानावर्णवाद - पृथिवीकाय वि. काय, प्राणातिपातादिनिवृत्ति वि. व्रत, मद्यादि प्रमाद और अप्रमाद; इनका बार-बार एक ही वर्णन आता है इसलिए पुनरुक्ति दोष है। मोक्ष के अभिलाषी को ज्योतिष् और योनिप्राभृत की क्या जरूर? क्योंकि ये तो संसार के कारण है। इस प्रकार बोलना ज्ञान का अवर्णवाद है। कायादि का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए अतः शास्त्रों में उपाधि के भेद से बार-बार विराधना न करने का उपदेश है तथा ज्योतिष् वि. शास्त्र शिष्य को अच्छे मुहूर्त में दीक्षा देने और अच्छे मुहूर्त में विशिष्ट आराधना में उपयोगी है,

PAGE : 109
DATE : / /

इस प्रकार सूक्ष्मबुद्धि से विचारना।

गा. 1638 (ii) केवली अवर्णवाद - केवली सभी प्राणी को उपदेश बोध नहीं देते इसलिए वे समवृत्ति वाले नहीं हैं; वे साम्राज्य देशना नहीं देते, गंभीर देते हैं; तथा गुरु को भी गोचरी वि. नहीं देते; वे तो कृतकृत्य ही हैं (भंग में) - इस प्रकार बोलना केवली का अवर्णवाद है।

असंज्ञी और कोरडे गूंग जैसे असंज्ञी जीव किसी के भी द्वारा प्रतिबोधित नहीं होते, गुरु से गुणों में बड़े होनेसे वे सेवा नहीं करते तथा वे वास्तविक कृतकृत्य हैं।

गा. 1639 (iii) धर्माचार्यावर्णवाद - जाति उच्च होवे या न हो तो भी अनेकप्रकार से निंदा करे, सेवा न करे, दोष देखे, गुरु के दोष सबके सामने बोले, उनके प्रतिकूल रहे वि. गुरु का अवर्णवाद है। कल्याणकारण के कारण गुण हैं, जाति नहीं। गुरु के अपमान का अभिनिवेशादि अतिभयंकर दोष हैं।

गा. 1640 (iv) साधु अवर्णवाद - ये साधु तो उपसर्ग सहन नहीं करते किंतु उपसर्ग आते हैं तो अन्य देश में चले जाते हैं; धीरे-धीरे चलते हैं; प्रकृतिसे निष्ठुर होते हैं; गुरु पर कभी रुष्ट कभी तुष्ट होते हैं; गृहस्थों पर वात्सल्य रखते हैं; सब चीज़ का संग्रह करते रहते हैं - इत्यादि अवर्णवाद।

दूसरे को संताप न हो इसलिए वे उपसर्ग सहन नहीं करते, ईर्यासमिति के लिए वे धीरे-चलते हैं (लोकरंजन के लिए नहीं), असंयम में निष्ठुर होते हैं (स्वभाव से नहीं) कषाय अल्प होनेसे रुष्ट-तुष्ट नहीं होते (हो तो भी अल्प), धर्मस्वीकार कराने के लिए गृहस्थों पर वात्सल्य रखते हैं तथा उपकरण बिना साधना नहीं होती इसलिए वे उपकरण रखते हैं।

गा. 1641 (v) मायावीश - गुण के अभाव रूप स्वयं के खराब स्वभाव को छुपाए, अन्य के विद्यमान गुणो

आभियोगिकी भावना

को भी ढांके, स्वचित्त के दोष से चोर जैसे सर्वत्र शंका वाला, सर्व वस्तु में छुपी प्रवृत्ति वाला मायावी होता है। (प्रति द्वार गा. 1636 पूर्ण)

प्र. 2. आभियोगिकी भावना के 5 प्र.-

गा. 1642 (प्रति द्वार) जो ऋद्धि-रस-साता गौरव वाला बनकर कौतुक (i) भूतिकर्म (ii) प्रश्न (iii) प्रश्नाप्रश्न (iv) निमित्त से आजीविका चलाता है, वह आभियोगिकी भावना वाला है। (v)

गा. 1643 (i) कौतुक- बालक को नहलाना, हवन-होम करना, मंत्र तंत्र करना, उस प्रकार की व्याधि के क्षय के लिए क्षार दहन करना, द्रव्ययोग मिश्रित धूप करना, स्त्री वि. को अनार्यादि का वेष पहनाना, प्रभाव सेन्द्रजालादि दिखाना, अनिष्ट की शांति के लिए थू-थू करना, मंत्रादि से बांधना आदि।

गा. 1644 (ii) भूतिकर्म- भस्म, गीली मिट्टी या धागे से चारों तरफ लपेटने स्वरूप भूतिकर्म प्रसिद्ध है। यह घर, शरीरादि के रक्षण के लिए वशीकरण किया जाता है।

गा. 1645 (iii) प्रश्न- देवता को पूछना वि. अथवा स्वयं और दूसरे लोग अंगुठे, कपड़े, दर्पण, खड्ग, पानी या दिवाल पर कुछ देखे।

गा. 1646 (iv) प्रश्नाप्रश्न- स्वप्न में विद्यादेवी द्वारा कहा हुआ पूछने वाले को कहना, इक्षणिका योगिनी डोंबी नाम से प्रसिद्ध है, घंटिका यक्ष द्वारा कहा हुआ घंटी में रहकर कहना वि.।

गा. 1647 (v) निमित्त- त्रि. भूत-भवि-वर्तमान। जो अधिकरण सहित है, वह अशुभ निमित्त और अधिकरण रहित है, वह शुभ निमित्त।

गा. 1648 गौरव के लिए ये भूतिकर्मादि करते मुनि आभियोगिक कर्म बांधते हैं जिससे उन्हें देवतादि का अभियोग करना पड़ता है। जो विशिष्ट ज्ञानी होकर निःस्पृह होकर कर्मादि करता है, वह विराधक नहीं किंतु आराधक होता है और उच्च गोत्र कर्म बांधता है क्योंकि वह तीर्थ की उन्नति करता है।
(प्रति द्वार गा. 1642 पूर्ण)

3-आसुरी भावना
संमोहनी भावना

अब. 4. आसुरी भावना के 5 ड्ग. —

गा. 1649 (प्रतिद्वार) (i) अनुबद्धविग्रह = कलह शील (ii) संसक्त तप = आहारादि के लिए तप करने वाला (iii) निमित्त = मतीतादि (iv) निष्कृप: = कृपा रहित (v) निरनुकम्प: = अन्य को कंपते हुए भी स्वयं अनुकम्पा रहित।

गा. 1650 (i) अनुबद्धविग्रह = सतत कलह करने वाला, अपराधी द्वारा खमाने पर भी कषायोदय से स्वपक्ष (साधु साध्वी) और परपक्ष (गृहस्थ) में प्रसन्न नहीं होता, पश्चात्ताप नहीं करता।

गा. 1651 (ii) संसक्ततप = आहार-उपधि-शय्या में जो सदा आसक्त होकर उन्हें प्राप्त करने के लिए ही जो तप करे वह।

गा. 1652 (iii) निमित्तादेशी - निमित्त उ.प. (मू. भवि. व.) | तीनों के विषय भेद से दुःख-सुख दुःख, जीवन मरण, लाभ अलाभ | उ. गा. 1647 में आभियोगिकी भावना में भी निमित्त क्यों कहा? उ. यदि निमित्त कथन तीव्र अभिमान पूर्वक हो तो आसुरी भावना, अभिमान बिना हो तो आभियोगिकी भावना।

गा. 1653 (iv) निष्कृप - किसी वस्तु में आसक्त होकर 6 काय जीवों पर घृणा बिना चले और किसी के कहने पर पश्चात्ताप भी न करे।

गा. 1654 (v) निरनुकम्प - जो किसी हेतु से दूसरे को काँपता हुआ देखकर भी क्रूरता से स्वयं कंपता नहीं है, वह वीतरागों द्वारा निरनुकंप कहा गया है।

(प्रतिद्वा. गा. 1649 पूर्ण)

~~गा. 1650~~ अब. संमोहनी भावना के 5 ड्ग. -

गा. 1655 (प्रतिद्वार) (i) उन्मार्ग देशक (ii) मार्ग दूषक (iii) मार्ग विप्रतिपत्ति वाला (iv) स्वयं में रहे मोह से (v) दूसरे को मोहित कर संमोहनी भावना करता है।

गा. 1656 (i) उन्मार्ग देशक - पारमार्थिक ज्ञानादि को दूषित करता हुआ, विपरीत धर्ममार्ग का उपदेश देने वाला स्व-पर दोनों का अहित करता है।

गा. 1657 (ii) मार्गदूषक - जो पारमार्थिक ज्ञानादि को और मार्ग में स्थित साधुओं का दूषित करता है वह अवद्य जीव पापी मार्गदूषक है।

भावनाओं के फल

भक्तपरिज्ञा अनशन विधि (ii)

गा. 1658 (iii) मार्गविप्रतिपत्ति- जो ज्ञानादि मार्ग को स्वकल्पित तर्कों से दूषित कर, उन्मार्ग स्वीकारता है, वह। एकदेश से

गा. 1659 (iv) मोह- जिससे विचित्ररूप से दूषित मति वाला जीव ज्ञान और चारित्र के गहन भेदों में मुंझे और परतीर्थिकों की बहुविध ऋद्धि देखकर जिससे मुंझे, वह मोह।

गा. 1660 (v) दूसरे को मोहित कर- जो अन्यप्राणी को सत्य युक्ति या मिथ्या युक्तियों से अन्यधर्म में मोहित करता है, ~~वह~~ उस जीव का भी यहाँ इस भावना में ग्रहण किया जाता है। (द्वार गा. 1628 पूर्ण)

अव. इन भावनाओं का फल-

गा. 1661 इन भावनाओं को भावित कर जीव कंदर्पादि दुर्गतिदेव में जाते हैं और वहाँ से च्युत होकर अनन्त संसार समुद्र में भटकते हैं।

अव. गा. 1627 के साथ जोड़ते हैं-

गा. 1662 चारित्र में विघ्न भूत इन भावनाओं को यह अनशनी विशेष से छोड़े और इनके निरोध से सम्यक् चारित्र प्राप्त करे।

गा 1663-69 पूर्वपक्ष- ये भावनाएँ चारित्र में विघ्नरूप नहीं हैं क्योंकि गा. 1629 में आपने कहा कि ये भावनाएँ द्रव्यचारित्री में हो सकती हैं।

उत्तर- व्यवहार नय से चारित्र हो सकता है क्योंकि कोई जीव संक्लेश बिना भी सेवन कर सकता है। निश्चय नय से चारित्र नहीं हो सकता। चर्चा।

अव. भक्त परिज्ञा की शेष विधि- (गा. 1626-7 से चालू)

गा. 1670 इन भावनाओं का प्रसंग यहाँ पर्याप्त है। अब सर्वनय से विशुद्ध ऐसा भक्तपरिज्ञा का विधान संक्षेप से कहूँगा।

गा. 1671 आत्मालोचना कर, संयम में उद्यत होकर, संघयणादि अनुसार उचित संलेखना कर, समाधि अनुसार गुरु के पास त्रिविध या चतुर्विध आहार का पच्चक्खाण करे।

गा. 1672 करवद्ध वंदना और स्वयं ही करे। यदि स्वयं असमर्थ हो तो आसक्ति रहित बनकर स्वयं को समाधि उत्पन्न करने वाला कृत्य अन्य वैयावृत्य-कर से भी कराए

गा. 1673 अतिशय आर्द्र अंतःकरण वाले, परम संवेग वाले वे मुनि जिनवचन से सभी जीवों में मैत्री, गुणाधिक में प्रमोद, क्लिष्ट जीवों में कारुण्य और अविनीत जीवों में माध्यस्थ भावना अत्यंत तीव्र भाव वाले होकर भावित करे।

अब. शरीर की समाधि के लिए प्रयत्न करे -

गा. 1674 शुभध्यान से धर्म होता है। किंतु अपने को शुभध्यान से ही देह समाधि से ही होता है। इसलिए धर्म को पीड़ा न हो इस तरह देह समाधि में प्रयत्न करना चाहिए।

गा. 1675 अन्यथा सर्व जघन्य चेष्टा संघयण होने पर स्थिरता और धैर्य से रहित दुर्बल मन वाले को देह की असमाधि में शुभध्यान कैसे हो!

गा. 1676 शुभ ध्यान के अभाव में देह की असमाधि वाले जीव की लेश्या भी अवश्य अशुभ होगी। उससे अशुभ लेश्या से जन्मांतर में भी वह अशुभ लेश्या वाले भव में ही उत्पन्न होता है। जिससे यह महान् अनर्थ होता है।

गा. 1677 इसलिए गीतार्थ के द्वारा श्रुत की आज्ञा से सर्व प्रयत्नों द्वारा शुभ ध्यान ही अनशनी को संपादित करना चाहिए।

गा. 1678 वह अनशनी भी सर्वत्र अप्रतिबद्ध होकर तथा आज्ञा परतंत्र होकर दुर्लभ प्राप्ति वाले चारित्र के भाव का नाश न हो इसलिए ही वह क्रिया अन्य से करवाए।

गा. 1679 क्रिया अन्य के पास कराने पर भी वह अदीन हो, जिनवचन में एक निष्ठ हो और संसार से विरक्त संविग्न हो तो परमार्थ से आराधक कहा गया है।

गा. 1680 क्योंकि इस प्रकार का जीव प्रायः भाव से संविग्न पाक्षिक ही होता है। जो

संविग्न पाक्षिक और असंविग्न पाक्षिक

असंविग्न पाक्षिक होता, वह चरम काल में भी चारित्ररत्न प्राप्त नहीं करता।

अव. संविग्न पाक्षिक का स्वरूप-

गा. 1681 संविग्न पाक्षिक शिथिलचारी होते हैं, प्रमाद से अल्प कार्यादि के भोग में प्रवृत्त होते हैं किंतु चित्त से तो धर्म में ही तिप्त होते हैं। जैसे किसी स्त्री का पति परदेश गया है, तब उसे परपुरुष में कभी राग हो गया, स्वल्पकाल के लिए ही उसका संग भी हुआ, बाकी समय वह दानादि में प्रवृत्त रहती है तो भी उसका चित्त परपुरुष में ही रहता है जिससे उसे पापबंध चालू रहता है तथा दानादि धर्म का फल अल्प ही मिलता है। इसी प्रकार संविग्न पाक्षिक भी मात्र काय से असमंजस में प्रवृत्त किंतु भाव से धर्म में रक्त, धार्मिक ही मानना चाहिए।

गा. 1682 धर्मविषयक भाव से ही वह अंत समय में शुभभाव के उत्कर्षविशेष से विरति भाव प्राप्त करता है।

अव. असंविग्न पाक्षिक का स्वरूप-

गा. 1683 जो क्लिष्ट चित्त वाला है, संयम निरपेक्ष है, अनर्थदंड में आसक्त है और वेश का उपघात करने वाला है, वह अंत में भी विरति रत्न प्राप्त नहीं करता।

गा. 1684 प्र. साधु कैसे संक्लिष्ट चित्त वि. दोष वाला होता है? उ. भारे कर्म से तथा वह द्रव्य साधु होता है)

गा. 1685 भारीकर्म से प्रमाद होता है और प्रमाद अति रौद्र पाप है जिसके कारण अनेक पृथ्वी भी अनंतकाय वनस्पति में है।

अव. इसी का कारण बताते हुए ज्ञान-दर्शन-चारित्र की दुर्लभता कहते हैं-

गा. 1686 यथास्थित पदार्थ का व्यवसायि ज्ञान दुःख से प्राप्त किया जाता है। वह प्राप्त करने के बाद भी 'वह इसी प्रकार है' ऐसी भावना (श्रद्धा) दुःख से होती है। भावितमति वाला जीव भी शब्दादि विषयों से दुःख से ही विरागी

होता है क्योंकि शब्दादि विषयों की प्रवृत्ति अनादि काल से आत्मसात् है।

गा॰ 1687-8 अन्य लिंगी और अभव्य-मिथ्यात्वी द्रव्य लिंगी वाले भी दीक्षा लेने से विशेष चित्तादि दोष वाले हो सकते हैं। समर्थन।

अव. भक्तपरिज्ञा की शेष विधि (गा॰ 1678 के बाद)

गा॰ 1689 इस अनशन के अधिकार में आहार त्याग उपलक्षण है। उपलक्षण से अन्य वस्तुओं को भी वोसिराए। उपयोग पूर्वक सूक्ष्म मिथ्यात्वादि भाव शल्य भी छोड़े।

गा॰ 1690 जो सभी असद् अभिनिवेश के त्याग से शुद्ध भाव वाला होकर इस समय में संवेग के अतिशय से पूर्व के आत्मा स्वयं के आत्मा को वर्तमान में अत्यंत अनुशास्ते, वह तीर्थंकर-गणधरों द्वारा आराधक कहा गया है।

गा॰ 1691 इसलोक और परलोक में अप्रतिबद्ध, जीवन-मरण में मध्यस्थ जो चरण-परिणाम युक्त है, वह आराधक है।

~~गा॰ 1692~~ अव. इसका फल-

गा॰ 1692 वह चारित्र परिणाम के प्रभाव से शैथिल्य विहार से उत्पन्न पूर्व दुष्कृत कर्मों को खपाकर जात्यादि दोष रहित विशुद्ध जन्म में उत्पन्न होता है और वहाँ भी दीक्षा के योग्य होता है।

अव. तीन प्रकार के आराधक कहते हैं-

गा॰ 1693 यह आराधक लेश्या के भेद से उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य 3 प्रकार का होता है। इन भेदों का विशेष कहता हूँ -

गा॰ 1694 जो सर्वोत्तम शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट विशुद्ध अंश रूप परिणमित होकर मरता है, वह अवश्य उत्कृष्ट आराधक होता है तथा अल्पसंसारी होता है।

आराधना का फल
5 वस्तुओं का महत्त्व

गा.1695 जो शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट भेद को छोड़कर शेष भेद और पद्म लेश्या के कोई भी भाव का प्राप्त कर मरता है, वह मध्यम आराधक है।

गा.1696 तेजो लेश्या के अंशों को प्राप्त कर जो मरता, वह जघन्य आराधक।

गा.1697 यहाँ आराधक मात्र लेश्या से नहीं जानना किंतु जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त है, वही आराधक जानना क्योंकि मात्र लेश्या तो अभव्य देव को भी होती है। जीव जो लेश्या में मरता है, वही लेश्या सहित उत्पन्न होता है।

गा.1698 आराधक जीव दुष्कृत कर्म खपाकर विशुद्ध जन्म में उत्पन्न होता है और फिर से चारित्र का योग भी होता है।

अव. आराधना का प्रधान फल-

गा.1699 जीव इस प्रकार आराधना कर सात-आठ भव के पहले यानि 3-4 भव में ही सकल लोक के मुकुट समान मुक्ति में अवश्य जाता है।

गा.1700 वहाँ जाकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, समाबाधा की निवृत्ति से निरुपम सुख वाले, जन्मादिदोष रहित, सदा काल वहीं रहते हैं।

सव. शास्त्र का उपसंहार-

गा.1701 इन पाँच वस्तुओं की सूत्रानुसार सम्यक् आराधना कर भूतकाल में अनंत जीव सिद्ध हुए हैं। संस्कारों सहित ~~अष्ट~~ कर्मों से रहित हुए।

गा.1702 इन 5 वस्तुओं की सूत्रानुसार सम्यक् आराधना कर वर्तमान काल में (अंतर्मुहूर्तादि में) सभी समय क्षेत्र यानि $2\frac{1}{2}$ द्वीप में सामान्य से संख्येय जीव सिद्ध हो रहे हैं।

गा.1703 इन 5 वस्तुओं की सूत्रानुसार सम्यक् आराधना कर पूर्व जैसे ही भविष्य में भी सर्वज्ञवचन के प्रामाण्य से निश्चय ही अनंत जीव सिद्ध होंगे।

साधु को उपदेश
परलोक में आगम प्रमाण
उपसंहार

PAGE : 117
DATE : / /

गा. 1704 इन वस्तुओं की आराधना कर तीनों काल में सामान्य से बहुत जीव संसार की वृद्धि करने वाले हुए।

अब. साधु को उपदेश देते हैं –

गा. 1705 इस प्रकार हित अहित को जानकर इन पंच वस्तु की आराधना में प्रयत्न करना चाहिए। संसार समुद्र में अन्य कोई उपाय नहीं है।

गा. 1706 भव्य जीवों की आराधना में प्रयत्न का मूल श्रद्धादि भावना से होने वाला आगम पारतंत्र्य ही है।

गा. 1707 परलोकगामी धर्म में आगम सिवाय अन्य कोई प्रमाण नहीं है इसलिए कदाग्रह छोड़कर आगम में प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् जिज्ञासा, श्रवण, अनुष्ठानों में यत्न करना चाहिए। अगीतार्थ की आचरणा नहीं करना चाहिए।

अब. इसी का अनर्थ बताते हैं –

गा. 1708 अन्यथा आगमबाह्य आचरण करने वाले अप्रमाण होते हैं।

गा. 1709 सूत्र में ऐसा कहा है, इस प्रकार कहने पर श्रुतबाह्य आचरण वाला यदि कोई किसी अन्य को आगे करते हैं तो वे तत्त्ववाद के बाहर हैं, धर्म के अधिकारी नहीं हैं।

गा. 1710 श्रुतकालीन बहुश्रुतों का दृष्टांत। चर्चा।

अब. उपसंहार –

गा. 1711 इसलिए मोक्ष की आकांक्षा वाले भव्य जीवों द्वारा वंदनादि सर्व अनुष्ठान सदा प्रमाद का त्यागकर सिद्धांत के अधीन बनकर करना चाहिए।

गा. 1712 इस प्रकार यथाशक्ति थोड़े भी अनुष्ठान करने से श्रद्धा और अनुमोदना द्वारा अन्य भी विशिष्ट अप्रमाद से होने वाले अनुष्ठान (ध्यानादि)

उपसंहार

PAGE :
DATE : / /

भाव प्रवृत्ति से किए गए ही जानना।

अव. ग्रंथ रचना का प्रयोजन -

गा. 1713 इस प्रकार भव विरह को इच्छते मेरे द्वारा यह पंचवस्तुक ग्रंथ विशाल श्रुत समुद्र से स्वस्तयं के अनुस्मरण के लिए उद्धृत किया गया।

गा. 1714 और शिष्यों के हित के लिए गाथाओं का मान गिनकर 1700 गाथा प्रमाण यह ग्रंथ स्थापित किया है।

समाप्ता चेयं पञ्चवस्तुकसूत्रटीका शिष्यहिता नाम। कृतिः धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोः आचार्यहरिभद्रस्य॥

कृत्वा टीकामेनां यदवाप्तं कुशलमिह मया तेन।
मात्सर्यदुःखविरहाद् गुणानुरागी भवतु लोकः॥
ग्रंथाग्रं 1715॥

~~हिन्दीभाषायां अस्य ग्रंथस्य~~
हिन्दीभाषायां अयं ग्रंथस्य भावार्थः लिखितः सूरिरामशतार्धिवर्ष- (जन्म)
-निमित्तम्।

समाप्तिवासरः - अ.व. ॥, वि.स. 2072

स्थानम् - कुंवाला ग्रामः। चि

श्री पंचवस्तुक ग्रंथ Summary

PAGE : 119
DATE : / /

Pg. No.	S.N.	(पंचवस्तुक की नोट में)
1	1.	पंच वस्तु के नाम, वस्तु कहने का कारण
2	2.	(A) प्रव्रज्या विधान वस्तु
2	3.	प्रव्रज्या के निक्षेप और भाव प्रव्रज्या का स्वरूप, आरंभ-परिग्रह का त्याग।
3	4.	गुरु के गुण, गुणवान् गुरु के लाभ
4	5.	अनुवर्तना के गुण, शिष्य के अननुपालन के दोष, अनुवर्तक गुरु के गुण
5-6	6.	शिष्य के गुण, दीक्षा का दुष्करत्व, अयोग्य को दीक्षा देने के दोष
6-8	7.	दीक्षा वय प्रमाण, बाल दीक्षा की चर्चा
8-10	8.	दीक्षा के योग्य क्षेत्रादि, दीक्षार्थी की परीक्षा, दीक्षा विधि
10-11	9.	गुरु की हितशिक्षा, क्रिया संबंधी निश्चय व्यवहार चर्चा
12-14	10.	(B) प्रतिदिन क्रिया वस्तु। प्रतिलेखना विधि, दोष वि.
14-16	11.	प्रमार्जना विधि, दोष, पात्र प्रतिलेखन विधि, दोष।
16-17	12.	भिक्षा, सज्झाय के आदेश, अभिग्रह, 8 गोचर भूमि,
17-19	13.	गोचरी लाने के बाद कायादि परठने, उपाश्रय प्रवेश, चोलपट्ट पहनने, काउस्सग्ग में दोष टालने की विधि।
19-21	14.	आलोचना विधि-दोष, गुरु की योग्य अवस्था, आहार दिखाने की विधि
	15.	मण्डली उपजीवक अनुपजीवक